www.emanjari.com

मंजरी

स्त्री के मन की

RNI Title Code: BIHBIL02442 अंक 27 वर्ष 2024

भूली बिसरी यादें

विलुप्त होते आंगन
खत्म होतीं अठखेलियां

WOMEN AND CHILD DEVELOPMENT CORPORATION

BIHAR

बिहार सरकार

SAKHI VAARTA OBJECTIVE:

The main objective of SakhiVaarta is to empower women and provide them with a platform where they can freely express themselves and learn from each other. The following activities are conducted in SakhiVaarta:

- Group Discussions and Dialogue Sessions
- Awareness Programs
- Workshops and Training
- Health Camps
- Legal Aid
- Entertainment and Cultural Programs

TO COMPLAIN ABOUT ANY KIND OF HARASSMENT, CALL THE TOLL-FREE NUMBER 181.

FB@WCDBihar twitter@WCDBihar Instagram@wcdbihar

संकल्पना

संकल्पना

इक्विटी फाउंडेशन लंबे अरसे से एक वेब पत्रिका शुरू करने के बारे में सोच रहा था। मकसद था महिला और समाज के मुद्दों को शिद्दत से उठाना। जब हमने चीजों को एक साथ कर उसे पत्रिका के रूप में सजाने के बारे में सोचना शुरू किया तो इस क्रम में कई लोगों से जुड़े। हमने महिलाओं को पत्रिका से जोड़ने की कोशिश की। हम दोस्तों से मिले और परिचितों से बात की। महिलाओं के सामाजिक समूहों और शिक्षाविदों के एक साथ जुड़ने के बाद जो स्वरूप सामने आया वह है 'मंजरी'।

मंजरी यानी कोंपल। शाखों में फूटने वाली नन्ही पत्तियां। नई शाखों का सृजन करने वाले इन कोंपल को कुम्हलाने से बचाना जरूरी है नहीं तो पूरे पेड़ का विस्तार कुंद हो जाएगा। ठीक उसी तरह स्त्री के मन की मंजरी को सहेजने की जरूरत है वरना पेड़रूपी समाज विकृति का शिकार हो जाएगा। हमारा प्रयास इसी मंजरी को पुष्पित पल्लिवत करने का है जो औरत की सोच और उसकी को. शिश को सही दिशा प्रदान कर सके।

मंजरी के सृजन के दौरान पहले तो 10–30 लोगों का एक ढीला–ढाला समूह बना। विचार आते गए। अलग–अलग विषयों और मुद्दों पर। समूह में कुछ अनमनी महिलाएं थीं तो कुछ सहानुभूति दिखाने वाले पुरुष भी। कुछ महज एक या दो बैठकों में शामिल हुए तो कुछ जब मन में आया, आ गए। बाकी बचे लोगों ने 'मंजरी' को मुकाम पर ले जाने का दायित्व अपने कंधों पर लिया। 'मंजरी' का लक्ष्य एक ऐसा मंच उपलब्ध कराना है जहां बुद्धिजीवियों को उनकी खुराक मिले तो शोधकर्ताओं की जिज्ञासा शांत हो। क्रियान्वयन के लिए बहस और तर्क के रास्ते हमेशा खुले रहें। इक्विटी की लगातार कोशिश रही है शोध और क्रियान्वयन के बीच की दूरी को पाटना। ऐसे में हमारा मानना है कि शोध तब तक अप्रासंगिक हैं जब तक कि इनका लोगों की जिंदगी और उनके क्रियाकलापों से जुड़ाव न हो। ठीक इसी तरह सिविल सोसायटी के तौर पर अगर हम जमीनी सच्चाई से वाकिफ न रहें, जिनमें सामाजिक प्रक्रियाएं और ऐतिहासिक मूल्यों का समावेश है और जो समाज में रहने वाले लोगों के मूल्यों और उनके चरित्र को आकार देते हैं, तो किसी भी कोशिश का कोई मतलब नहीं रहता है।

'मंजरी' एक उद्यम है, क्रियाशीलता को शोध आधारित रचना और आलोचना के नजरिये से देखने का जो महिला अधिकारों के साथ–साथ जीवन के हर पलू को इंगित करे। नियमित गैर सरकारी संगठनों और अकादमिक तंत्रों से इतर 'मंजरी' राजनीति और आदर्शवादिता को लांघ कर सामाजिक, राजनीतिक और आर्थिक सुधारों को सांस्कृतिक संवेदनशीलता के आधार पर मापती है। 'मंजरी' उन तमाम कार्यकर्ताओं, विद्वानों, शिक्षाविदों, पत्रकारों, प्रोफेशनल, गृहणियों और नीति निर्धारकों द्वारा पढ़ी जाएगी जो किसी समस्या के लिए समाधान आधारित नवीन दृष्टि और पृथक सोच रखते हैं। यह पत्रिका अपने पाठकों को जेंडर आधारित मुद्दों को जैविक और सामा. जिक आधार पर परखने की छूट देती है। व्यक्ति और समाज की विचारधारा में जेंडर को लेकर क्या बदलाव आये और उनका क्या असर हुआ, इसकी पूरी पड़ताल करने की आजादी लोगों को होगी। यह पत्रिका एक कोशिश है पड़ताल की प्रवृत्ति को जगाने की ताकि लोग तेजी से बदलते और विविधताओं से भरे समाज में परी क्षमता से काम करने को तैयार हो सकें जिसमें महिलाओं के प्रति भेदभाव भी एक अहम मुद्दा होगा। महिला समानता और अधिकारों पर 'मंजरी' के दखल से उन बेशुमार कार्यकर्ताओं, संगठनों और विद्वजनों को फायदा होगा जो दहेज, यौन प्रताड़ना, महिला अधिकारें, महिला आरक्षण, आर्थिक सुधार और अल्पसंख्यक समुदायों के निजी कानूनों में रुचि रखते हैं।

पत्रिका का मकसद

इक्विटी फांडेशन खुद को सुविधाविहीन महिलाओं को उनकी पूर्ण क्षमता से अवगत कराने और समाज में उनके क्रियाशील प्रभुत्व को स्थापित कराने की दिशा में वाहक के तौर पर देखता है। देश के विकास के हर क्षेत्र में महिलाओं की समान भागीदारी की राष्ट्रीय नीति तभी सफल हो पाएगी जब महिलाओं की भूमिका और उनके योगदान को कमतर आंकने वाले संस्थान और विचारें को हतोत्साति किया जाये या उनका पूरी तरह सफाया किया जाय। 'मंजरी' की परिकल्पना समाज और अर्थव्यवस्था में महिलाओं के जीवन और उनके स्तर को प्रभावित करने वाले विचारें के निर्माण, विकास और उनके प्रसार के लिए की गई है। बारहवीं पंचवर्षीय योजना के परिप्रेक्ष्य में समानता संबंधी मुद्दों को इस प्रकार समग्र रूप में देखने की जरूरत है जो असमानता की अंतरवर्गीय विशेषताओं को जाहिर कर सके। समानता पर आधारित 'मंजरी' के ज्यादातर आलेख भिन्न–भिन्न समूहों को निशाने पर रखते हैं जो कुछ हद तक बेहद जरूरी भी है। इसलिए यह पत्रिका कुछ समूहों के कुछ विशेषाधिकारों के पूर्ण निष्कासन और अंतरवर्गीय दृष्टिकोणों के स्थापन के बीच नियंत्रक की भूमिका में होगी जो नीति निर्धारण और योजनाओं के क्रियान्वयन के दौरान असमानता को उसके तमाम स्वरूपों के साथ सामने रखने में कारगर होगी। ऐसे में इसका मकसद लैंगिक भेदभाव के निर्मूलन की ओर वह विवेचनात्मक चर्चा छेड़ने का है जो वर्तमान परिदृश्य में शोधों का एजेंडा तय कर सके और एक बेहतर वैकल्पिक प्रस्ताव का सृजन कर सके। अब तक यह संगठन कार्यशाला, कांफ्रेंस और अन्य सार्वजनिक आयोजनों के जरिये अपनी प्रतिबद्धता दर्शाता रहा है लेकिन अब इस पत्रिका के माध्यम से यह क्षेत्रीय, राष्ट्रीय और अंतरराष्ट्रीय अतिथि लेखकों, जिनमें विद्वजन, अधिवक्ता, सरकार, पत्रकार, फिल्म निर्माता, कवि और सामाजिक कार्यकर्ता हैं, को जोड़ने की कोशिश कर रहा है।

हमारी बात

संरक्षण

पद्मश्री डा. उषा किरण खान
प्रख्यात लेखिका एवं साहित्यकार

मणिकांत ठाकुर
प्रख्यात पत्रकार

प्रो. भारती एस. कुमार
प्रोफेसर (सेवा.) इतिहास, पटना विवि

डा. रेणु रंजन
प्रोफेसर (सेवा.), समाज शास्त्र
पटना विवि

परामर्श

डा. शरद कुमारी
सचिव, बिहार महिला समाज

अंजिता सिन्हा
पत्रकार

डा. मधुरिमा राज
स्वतंत्र लेखिका एवं षोधकर्ता

सुजाता गुप्ता
लेखिका, कवयित्री एवं
अनुवादक

संपादकीय

"परंपरा जब लुप्त होती है, सभ्यता
अकेलेपन के दर्द से मरती है"

रामधारी सिंह दिनकर की ये पंक्तियाँ परम्पराओं के लुप्त होने और सभ्यताओं के अपनी चमक खत्म होने की पीड़ा को सामने रखती हैं। कोई भी सभ्यता अपनी संस्कृति और परंपरा के बल पर ही फलती–फूलती है, ऐसे में अगर संस्कृति को भुला दिया जाए तो उस पूरी सभ्यता को भी समाप्त होने में समय नहीं लगता है। भारत वैश्विक स्तर पर प्राचीन सभ्यता और जीवन शैली का संवाहक माना जाता है। सिंधु घाटी की सभ्यता से लेकर दुनिया को शून्य से लेकर परंपराओं और संस्कृति–ज्ञान का परिचय कराने वाला भारत नई शताब्दी के आगमन के साथ बेहद तेजी से जड़विहीन होता जा रहा है। अगले एक–डेढ़ दशक में भारत से एक ऐसी पीढ़ी लुप्त हो जाएगी जो संभवतः एक ऐसी कड़ी थी जो पिछले दो हजारों साल के संस्कार, प्रथा, रीति–रिवाज, त्योहार, जीवन–शैली सभी को लेकर चल रही थी और पीढ़ी–दर–पीढ़ी उसे आगे बढ़ा रही थी। पीढ़ियों का यही क्रम तो एक सभ्यता को जिंदा रखता है। उसे सहेजता और विकसित करता है। अब तक कोई भी ऐतिहासिक या भौगोलिक परितर्वन रहे हों या फिर धर्म हो या वर्ग के बदलाव, भारत की इस सभ्यता पर इनका तनिक प्रभाव नहीं पड़ा था। देश बंटे और इतिहास बदला लेकिन जीवनशैली अक्षुण्ण रही। परंतु अब शायद इन सब पर फुलस्टॉप लगने का वक्त आ गया है और यह सब इसी पीढ़ी के साथ चला जाएगा। नई पीढ़ी ना तो पुराने संस्कार और सभ्यता को अपनाना चाहती है और ना ही उसे आगे बढ़ाना। आधुनिकता, तकनीक और आडंबरपूर्ण जीवन में वह इस सब को ढकोसला और असामयिक करार देकर त्यागते जा रही है। ऐतिहासिक धरोहरें खत्म नहीं होंगी लेकिन उनके बारे में बताने के लिए कोई नहीं बचेगा। त्योहार आएंगे लेकिन उसकी महत्ता और संस्कार को बताने वाला चला गया होगा जिस वजह से वे दिन केवल एक तारीख बनकर रह जाएंगे। भले ही यह सुनने में कुछ कड़वा हो लेकिन यही सत्य है। एक सार्वभौमिक सत्य।

'मंजरी – स्त्री के मन की' का 27वां अंक "भूली बिसरी यादें: विलुप्त होते आँगन, खत्म होती अठखेलियाँ'' समर्पित है हमारी विलुप्त होती परंपरा और संस्कृति को। कहते हैं न कि परंपरा को अंधी लाठी से मत पीटो, उसमें बहुत कुछ, जो जीवित है, वो जीवनदायक है। 'मंजरी' के इस अंक में हमने उन कलाओं, खेलों, त्योहारों और अनगिनत परम्पराओं को समेटने की कोशिश की है, जो कभी हमारी जीवन शैली का अभिन्न अंग हुआ करते थे लेकिन आज उन्हें या तो बिसार दिया गया है या बेकार समझकर छोड़ दिया गया है।

नई पीढ़ी के लोग बिलकुल अलग ही हैं। रात को जल्दी सोने वाले, सुबह

मुख्य संपादक

नीना श्रीवास्तव

संपादक

दीपिका झा

शोध

नीना श्रीवास्तव
दीपिका झा

आवरण चित्र

वरिष्ठ अतिथि कलाकार
अनु प्रिया

लोगो डिजाइन

दीया भारद्वाज

प्रबंधन/व्यवस्था

राहुल कुमार

प्रकाशन

इक्विटी फाउंडेशन

संपर्क

इक्विटी फाउंडेशन
123 ए, पाटलीपुत्र कॉलोनी
पटना, 13
फोन : 0612.2270171

ई–मेल
equityasia@gmail.com
वेबसाइट
www.emanjari.com

जल्दी जागने वाले, भोर में घूमने निकलने वाले, आंगन और पौधों को पानी देने वाले, देवपूजा के लिए फूल तोड़ने वाले, पूजा–अर्चना करने वाले, प्रतिदिन मंदिर जाने वाले, कहीं रास्ते में मिलने वालों से बात करने वाले, उनका सुख–दुःख पूछने वाले, दोनों हाथ जोड़कर प्रणाम करने वाले, पूजा किए बिना अन्न ग्रहण न करने वाले लोग जल्दी ही पुराने जमाने के लोग हो जायेंगे। ऐसे लोगों का संसार अलग ही होता है जिसमें तीज त्योहार, मेहमान शिष्टाचार, अन्न, सब्जी की चिंता, घर में बने भोजन का सबसे पहले भगवान को भोग लगाना और रीति रिवाज का पालन करना सबसे अधिक महत्वपूर्ण होता है। इन सबके बिना उनका जीवन ही संपूर्ण नहीं। समाज का डर पालने वाले, पुरानी चप्पल, बनियान, चश्मेवाले, गर्मियों में अचार पापड़ बनाने वाले, घर का कुटा हुआ मसाला इस्तेमाल करने वाले और हमेशा देशी टमाटर, बैंगन, मेथी, साग भाजी ढूंढने वाले, नजर उतारने वाले, सब्जीवाले से 1–2 रुपये के लिए झिक–झिक करने वाले लोग अब हमेशा के लिए चले जाएंगे। दुनिया में प्रलय भले ही भौगोलिक कारणों से आए लेकिन यह सांस्कृतिक प्रलय उससे भी बदतर होगी जिसके परिणाम अगले कुछ दशकों में विकृत रूप में सामने होंगे।

"परंपरा और क्रांति में संघर्ष चलने दो
आग लगी है, तो सूखी टहनियों को जलने दो।
मगर जो टहनियां आज भी कच्ची और हरी हैं
उन पर तो तरस खाओ।
मेरी एक बात तो तुम मान जाओ
परंपरा जब लुप्त होती है
लोगों को नींद नहीं आती"

Srivastava

नीना श्रीवास्तव

श्रोत : सतीश मिश्र (navbharattimes.indiatimes.com)

1

16

15

20

28

अनु प्रिया (कलाकार/लेखिका)

सुपौल बिहार में जन्मीं अनु प्रिया जी के साठ से अधिक किताबों के आवरण एवं पत्र–पत्रिकाओं में रेखाचित्र प्रकाशित हो चुके हैं। साहित्य अकादमी, राजकमल प्रकाशन, वाणी प्रकाशन, अल्टरनोट प्रकाशन, अगोर प्रकाशन, प्रकाशन विभाग आदि से किताबों के आवरण पर निरंतर इनके द्वारा बनाये गए चित्र का प्रकाशन होता रहता है।

थीम पेपर

वो चूल्हे की रोटी, वो घड़े का पानी

आज खानपान की चीजों में स्वाद एक तरह से गायब हो चुका है। गाँवों में चूल्हे की रोटी, देगची पर पकी दाल, छप्पर–बिटोरा तथा बुर्जी पर लगी लौकी, तोरई, सेम आदि की सब्जी के स्वाद जायका जिसने लिया है वही जानता है।

आधुनिकता के दौर में अब गाँव भी शहर बनते चले जा रहे हैं। धीरे–धीरे ही सही लेकिन शहरी सुविधाएं अब गाँवों तक पहुंच चुकी हैं। गाँव में बिजली, पानी, सड़क जैसी मूलभूत सुविधाएं पहुंची हैं, जिससे निश्चित तौर पर ग्रामीण जीवन शैली में सुधार देखने को मिल रहा है। यहां यह कहना गलत नहीं होगा कि ग्रामीण क्षेत्रों में अब भौतिकवादी जीवनशैली जीवन का एक अभिन्न अंग बनती जा रही है। इससे एक तरफ ग्रामीण जीवन जीना तो आसान हुआ है। वहीं दूसरी ओर गाँवों में प्रकृति के साथ जीने की जो जीवनशैली थी वह खत्म हो चुकी है। इसके चलते गाँव भी आज शहरों में पाई जाने वाली अनेक समस्याओं और बुराइयों से अछूते नहीं दिखाई पड़ रहे हैं। ग्रामीण क्षेत्रों में प्रकृति के साथ रहना प्राकृतिक रूप से जीवन यापन करना और प्राकृतिक खानपान की पद्धतियां अपनाते हुए अपने भोजन में शामिल करना सदियों से भारतीय ग्रामीण जीवन शैली का एक अभिन्न अंग रही हैं। लेकिन आज यह भारतीय ग्रामीण जीवन शैली की पुरातन विरासत अपना अस्तित्व खो चुकी है।

डॉ सत्येन्द्र पाल सिंह

कृषि विज्ञान केंद्र, लहार (भिण्ड), मध्य प्रदेश के प्रधान वैज्ञानिक और प्रमुख हैं।

भारतीय ग्रामीण क्षेत्रों के खानपान की पद्धतियां, उन्हें बनाने के तरीके और भोजन में शामिल विभिन्न प्रकार के अनाज, वस्तुएँ आदि आज धीरे–धीरे गौण हो चुके हैं। एक समय था जब ग्रामीण क्षेत्रों में गाय–भैंस का दूध मिट्टी से तैयार बरोसी में गोबर से बनाए गए उपले डालकर मिट्टी की ही बनी हाड़ी अर्थात हड़िया में गर्म किया जाता था। धीरे–धीरे करीब 3 से 4 घंटे जब इस मिट्टी के बर्तन में दूध गर्म होता था तब दूध के अंदर की वसा मोटी परत के रूप में ऊपर आ जाती थी। इतना ही नहीं दूध में

यदि कोई खराब तत्व होते थे तो उसे मिट्टी सोख लेती थी। मिट्टी के अंदर पाए जाने वाले मिनरल्स जैसे कैल्शियम, फास्फोरस, आयरन आदि दूध में मिश्रित हो जाते थे। इससे दूध की गुणवत्ता में सुधार के साथ उसके पोषण और स्वाद में बहुत इजाफा होता था। लेकिन आज गाँवों में दूध गर्म करने के लिए एलमुनियम–स्टील के बर्तन का प्रयोग किया जा रहा है, जिससे इन धातुओं के तत्व दूध में मिश्रित होकर किडनी और लीवर जैसे मानव अंगों को खराब करने का काम कर रहे हैं। हाड़ी में दूध गर्म करने के बाद इसे मिट्टी के बर्तनों में ही जामन लगाकर जमाया जाता था तथा सुबह मिट्टी के बर्तनों में ही हाथों से रई द्वारा चला कर इसका मक्खन तथा मट्ठा तैयार किया जाता था, जो कि स्वाद और पोषण में अच्छा होने के साथ–साथ ही सेहत के लिए बहुत फायदेमंद होता था। इतना ही नहीं रई से मट्ठा बिलोने वाली महिला का व्यायाम होने की वजह से उसका स्वास्थ्य भी बढ़िया रहता था।

गाँवों में आटा भी पहले हाथ से चलने वाली चकिया से ही पीस कर तैयार किया जाता था। वह चाहे ज्वार, बाजरा, मक्का, चना, गेहूं, जौ आदि प्रतिदिन की जरूरत का आटा–दाना हो, हाथ की चक्की से पीसकर तैयार कर लिया जाता था। जिसकी कल्पना करना आज मुमकिन नहीं है। भारतीय ग्रामीण जीवन शैली की ये कुछ ऐसी पद्धतियां थी जिससे हमें शुद्ध खानपान तो मिलता ही था, इससे स्वास्थ्य भी बेहतर रहता था। कहा जाता है कि अगर गर्भवती महिलाएं हाथ से चलाने वाली चक्की से आटा पीसती थी या बिलोने से मक्खन निकालती थी तो उन्हें कभी हॉस्पिटल जाकर बच्चा पैदा कराने की जरूरत नहीं पड़ती थी। इन महिलाओं को घर में ही आसानी से बच्चे पैदा हो जाते थे। जबकि आज गावों में भी हर बच्चा हॉस्पिटल में और हर तीसरा बच्चा ऑपरेशन से पैदा कराना पड़ रहा है। आज ग्रामीण क्षेत्रों में भी स्वास्थ्य के लिए अत्यंत हानिकारक पिज्जा, बर्गर, चाऊमीन, मोमोज जैसी चीजें चलन में आ चुकी है। एक दौर था जब ग्रामीण क्षेत्रों में स्नेक्स के रूप में चना, मटर, बाजरा, मक्का, ज्वार आदि को गाँव में ही भाड़ पर भुनवाकर बखूबी खाया जाता था। यह स्वास्थ्य और सेहत के लिहाज से बहुत अच्छे होते थे। अधिकांश क्षेत्रों में सुबह के समय नाश्ते के रूप में दही, मट्ठा, गेहूं–चने की मिश्रित रोटी, मक्खन/लोनी, दही, बाजरे की रोटी, आदि का प्रयोग किया जाता था। परंतु अब यह सब ग्रामीण नाश्ते की थाली से गायब हो चुके हैं। एक समय था जब गांव में चाय देखने को नहीं मिलती थी। लेकिन आज वह जीवन का एक अभिन्न अंग बन चुकी है। आज खानपान की चीजों में स्वाद एक तरह से गायब हो चुका है। जबकि गाँवों में चूल्हे की रोटी, देगची पर पकी दाल, छप्पर–बिटोरा तथा बुर्जी पर लगी लौकी, तोरई, सेम आदि की सब्जी के स्वाद जायका जिसने लिया है वही जानता है। ओखली में धनकुटे से कुटे हुए चावल हों या फिर गन्ने के रस में बनाई हुई रसखीर का स्वाद या फिर गरम गरम कोल्हू का गुड़, राव और शक्कर का स्वाद अपने आप में सब कुछ अनूठा था।

एक समय था जब गाँवों में सर्दियों में अलाव/अगियाने पर शकरकंद और आलू भूनकर जब खाए जाते थे तो उसका स्वाद अपने आप में अनूठा होता था। लेकिन समय के साथ आज ग्रामीण क्षेत्रों में भी चूल्हे की जगह गैस ने ले ली है। देगची की जगह प्रेशर कुकर आ चुका है। पहले जब देगची में दाल पकाई जाती थी तो शुरू में दाल से निकलने वाले झाग और गंदगी को निकाल के बाहर किया जाता था। परंतु प्रेशर कुकर में यह सब गंदगी और झाग उसी में रह जाते हैं। यही कारण है कि आज जो घुटनों में दर्द की समस्या है, इन सब की वजह से बढ़ रही है। गर्मियों के मौसम में चने और जौ से तैयार किया गया सत्तू प्राकृतिक रूप से

थीम पेपर

बनाया गया शरीर को ठंडक देने वाला एक उत्तम पेय पदार्थ है। यह सत्तू गर्मियों के मौसम में शरीर को लू से बचाने में महत्वपूर्ण भूमिका निभाता है। लेकिन ग्रामीण खानपान में इस सत्तू का स्थान बाजार में उपलब्ध अनेकों प्रकार की कोल्ड ड्रिंक्स ने ले लिया है। गांव में यदि आज जाएं तो कोल्ड ड्रिंक तो हर घर पीने को मिल जाएगी परंतु सत्तू और छाछ का मिलना बहुत मुश्किल है। किसी समय में भारतीय ग्रामीण भोजन शैली में मोटे अनाज मिलेट की बहुत महत्वपूर्ण स्थान होता था। लेकिन आज ग्रामीणों की थाली में इन मोटे अनाजों का उपयोग कम होता चला जा रहा है। गाँव में खेतों की मेड़ों पर प्राकृतिक रूप से उगे झरबेरी के बेर हों या फिर प्राकृतिक रूप से पैदा हुई अनेकों सब्जियां। इन सभी का प्राकृतिक ग्रामीण भोजन शैली में एक अपना अनूठा स्थान रहा है।

ग्रामीण क्षेत्रों में ग्रामीण लोक परंपराएं, लोक संगीत और गायन का भी अपना एक अलग महत्व रहा है। लेकिन आज यह सभी धीरे–धीरे विलुप्त के कगार पर आ गया है। आज गाँवों में भी मनोरंजन के अनेक अन्य भौतिकवादी साधन अपना स्थान बना चुके हैं। जिसके चलते लोक संगीत, लोक गायन विलुप्ति के कगार पर पहुंच चुके हैं। इतना ही नहीं बल्कि ग्रामीण क्षेत्रों में खेले जाने वाले अनेक स्थानीय खेल भी लगभग विलुप्त हो चुके हैं। यह सब हुआ है गाँवों में भी भौतिकवादी संस्कृति के पैर पसारने के चलते। यहां यह कहना गलत नहीं होगा कि कितने बदल गए हैं हमारे गाँव, उनका खानपान, उनका रहन–सहन, उनके जीने की पद्धति। आज लोग सुख–सुविधाओं के इस कदर आदी हो चुके हैं कि यदि घर में टीवी, फ्रिज, एसी, गाड़ी, गीजर, बिजली आदि न हो तो वह जीवन की कल्पना नहीं कर सकते हैं। ग्रामीण क्षेत्रों में भी कमोबेश यही स्थिति देखने को मिल रही है, जो थोड़ा बहुत भी संपन्न है तो उसके यहाँ यह सभी सुख सुविधाएं आपको मिलेंगी।

मिट्टी के घड़े का हम एक छोटा सा उदाहरण देख सकते हैं। पूरी गर्मी मिट्टी के घड़े में पानी भर के उपयोग किया जाए तो मैं समझता हूं कि कोई कारण नहीं है कि आपक. ो फ्रिज के पानी की जरूरत पड़े। इतना ही नहीं मिट्टी के घड़े में पानी शीतल और मृदु होने के साथ ही साथ काफी लंबे समय तक खराब नहीं होता है। यही कारण है कि आज शहरी लोग भी घड़े के पानी की महत्ता समझने लगे हैं। इसके चलते शहरी क्षेत्रों में भी मिट्टी के घड़ों की बिक्री गर्मियां आते बढ़ जाती है। मोबाइल क्रांति और इंटरनेट सुविधा के चलते गाँवों में भी आज लोगों के हाथों में पूरी दुनिया आ चुकी है। इसके चलते लोगों में ग्रामीण क्षेत्रों की खानपान की पद्धतियों के इतर अन्य चीजें जानने और अपनाने के प्रति रुचि पैदा हुई है। ग्रामीण युवा शहरों की चकाचौंध के प्रति आकर्षित हो रहे हैं। हालांकि मोबाइल में इंटरनेट आने के बाद इसमें खेती–बाड़ी से जुड़ी अनेक अच्छी सामग्रियां उपलब्ध है। बावजूद इसके न तो किसान और नहीं शिक्षित ग्रामीण युवा किसान इसका उपयोग कर रहे हैं। यदि इंटरनेट सुविधा का ग्रामीण युवा किसान भाई बेहतर तरीके से उपयोग करें तो वह इसका काफी लाभ उठा सकते हैं। लेकिन अभी ऐसा देखने में कम ही मिल रहा है। प्राकृतिक जीवन शैली का कोई विकल्प न पहले था, ना आज है और ना आगे होगा। लेकिन आज भौतिकवादी युग में लोगों पर समय और स्थान की कमी भी एक प्रमुख कारण प्राकृतिक जीवन शैली जीने में बन रही है। जनसंख्या वृद्धि अपने चरम पर है। रोजगार की तलाश में लोगों को गाँव से बाहर जाना पड़ रहा है। इतना ही नहीं गाँवों में भी लोग भौतिकवादी और आधुनिक जीवन शैली की ओर पलायन कर चुके हैं। ऐसे में समाज का एक वर्ग प्राकृतिक कृषि, प्राकृतिक जीवन शैली और प्राकृतिक खानपान की लिए ग्रामीण क्षेत्रों की ओर देख रहा है। जिसके लिए 'फार्म टूरिज्म एवं गांव पर्यटन' जैसी अवधारणा लेकर लोग आ रहे हैं। कई क्षेत्रों में फार्म टूरिज्म शुरू भी हो चुका है, जहां जाकर शहरी संपन्न लोग कुछ दिन–रात बिताकर पुरातन ग्रामीण जीवन शैली का आनंद लेने के साथ ही परंपरागत ग्रामीण खानपान का स्वाद भी ले रहे हैं।

(साभारः www.gaonconnection.com)

मिला के मिट्टी में
वो पुरातन मिट्टी का चूल्हा
उसकी जगह ले आये
गैस से चलने वाला चूल्हा
साथ चंद बीमारियां भी
जिसने काम आसान तो कर दिया
पर, प्राकृतिक सेहत को
कुछ मुश्किल भी बना दिया
जहां मिट्टी जोड़ रखती थी हमें
अपनी जड़ों अपनी भूमि से
देती थी अपनेपन का सौंधा स्वाद
वहीं कृत्रिम गैस ने बना दिया
पूरी तरह अप्राकृतिक
कि अब न रहे वो कच्चे आँगन
न गोबर से लिपा गेरु से पुता
घर क्या पूरे मुहल्ले को
एक करता हुआ वो सांझा चूल्हा
जिसकी मद्धम आंच में
अगर सिंकते थे मधुर रिश्ते
तो पकती थी आत्मीयता पूर्ण बातें
और उसके इर्द–गिर्द धरा पर बैठ
देह पाती थी माटी से जुड़ाव
ये अहसास उस चूल्हे की तरह ही
विलुप्त हो रहा धीरे–धीरे ।।

(साभारः antarveena.blogspot.com)

सुनहरी यादें

डॉ मीरा मिश्रा

कवयित्री एवं लेखिका

मेरा गांव मेरी स्मृतियों में

अम्मां के गुजरने के 6 साल बाद 2019 में मैं अपनी बहन बीना के साथ अपने गाँव चैनपुर गई थी। मुझसे मिलने मेरी दो भतीजियां भी अपनी ससुराल से आ गयी थीं। मैं दिनभर गाँव की सुनसान गलियों में अपनी यादों में बसे उस गाँव की चहल–पहल को तलाशती रही जो न जाने कहां गुम हो गयी थी। मां–पिता के जाने और भाइयों के शहर में बस जाने के बाद एक बूढ़े भैया रह गये हैं, जो घर में टिमटिमाते दिये की तरह रोशनी पकड़ कर अंधेरे से लड़ने की पुरजोर को. शिश करते रहते हैं। मेरे घर के अगल–बगल दोनों घरों के दरवाजों पर ताले लटके हुए थे। कुछ अन्य घरों में लोग थे परंतु उन्हें गाँव की बेटी के मायके आने से अब कोई फर्क नहीं पड़ता। सभी अनजाना सा भाव लिये अपनी दुनिया में व्यस्त दिखे। मेरी बड़की भौजी अपनी झुकी कमर के सहारे कुशल क्षेम पूछती हुई हमारे लिये चाय नाश्ते का प्रबंध कर रही थीं। बचपन से जुड़ी यादों के पिटारे में से कई चेहरे काल कवलित हो चुके थे। जो थे वे अधिकांश नये थे। मैं स्मृतियों के पन्नों में उस गाँव को ढूँढ रही थी जिसमें मेरे बचपन का कुछ हिस्सा गुजरा था। गाँव वही था,

सुनहरी यादें

गलियां भी वही थीं, परंतु गाँव की जिस सोंधी महक से मेरा वास्ता था उसका दूर–दूर तक पता नहीं था। कई जगह भूगोल भी बदला दिखा तो कई जगह कुछ नये इतिहास बिखरे मिले। यादों के पन्ने पलटती मैं अपने गाँव के खेत खलिहान, नदी बथान, घर आँगन हर जगह घूमने लगी।

मेरा गाँव चैनपुर, बलिया जिले में बेल्थरा रोड से आठ किलोमीटर पश्चिम दिशा में स्थित है जिसके उत्तर की ओर सरयू /घाघरा नदी बहती है। बाढ़ से बचने के लिये गाँव के बगल से एक पुराना बांध गुजरता है जिसके किनारों पर मिट्टी का कटाव रोकने के लिये नरकट की झाड़ियाँ और बबूल के पेड़ लगे हुए हैं। बांध के उस पार ऊँचाई पर तीन गाँव गुलौरा, मठियां और महुआतर हैं। नदी की मुख्यधारा हर पाँच–दस साल पर अपनी सीमा बदलती रहती है। कभी यह उत्तर की ओर देवरिया जिले की सीमा की ओर रुख कर अपना कटाव जारी रखती है तो कभी हमारी तरफ। इसके दियारे में जिन लोगों के खेत हैं वे सरयू से दिशा बदलने की प्रार्थना करते रहते हैं क्योंकि कटाव होने से उनके खेत सरयू की जलधारा में समाकर बालू से ढँक जाते हैं। दियारे में जिन खेतों में बाढ़ नयी मिट्टी छोड़ जाता है, उनमें उन दिनों शकरकंद, गन्ना, अगहनी धान, तिन्नी, तरबूज, खरबूज, खीरा, ककड़ी इत्यादि की अच्छी पैदावार होती थी। मुझे आज भी गाँव के भरसांय में पकाये हुए शकरकंद की सोंधी महक और चीनी सी मिठास अपनी ओर खींचती रहती है, जिसका स्वाद लिये बरसों बीत गये।

अम्मां जब जीवित थीं तो एक बार मुझे अपने साथ नदी और बड़की बारी (आम का बड़ा बगीचा) दिखाने ले गयी थीं। नदी में उस समय पानी बहुत कम था जिसके कारण पंप नहर की मशीनें जंग पड़ी खराब हो रही थीं। नहर सूखी हुई थी और कुछ किसान जिनकी जमीनों पर मुट्ठी भर मुआवजे देकर सरकार ने ये नहरें बनायी थीं, सूनी आँखों से विकास के इस कड़वे यथार्थ को निहार रहे थे। बांध के उस पार कब्रिस्तान के बगीचे के उत्तरी मुहाने पर मेरे बचपन में एक विशाल पीपल का पेड़ होता था जिसकी उभरी हुई खुली मोटी जड़ों पर हम बड़की माई के साथ नदी स्नान करने के बाद खेलते थे। तब नदी की एक जलधारा उसके पास से होकर गुजरती थी। मुझे वहाँ न तो नदी दिखायी दी न ही वह पीपल का पेड़।

गाँव में हर घर की बनावट पूर्वांचल की खास सीधी सादी शैली वाली थी जिसमें घर के बीचोंबीच एक आँगन, उसको चारों ओर से घेरे बारामदा और बारामदे में खुलते छोटे छोटे कमरे होते थे जिनमें अनाज रखने की बड़ी–बड़ी मिट्टी की डेहरी होती थी। डेहरी दरवाजे के पास ही होती थी जो कमरे के अंदरूनी हिस्से को प्राइवेसी देने का काम करती थी। अन्दर छोटी खिड़की वाला अंधेरा सा कमरा होता था जिसमें बहुओं के मायके से मिली बड़ी सी खाट बिछी होती थी। तब हर बड़े व्यक्ति का अपना एक कमरा होता था और बच्चों की अपनी चारपाई या चौकी जिसे गर्मियों में आँगन या बाहर नीम की छाँव तले डालकर खुले आसमान के नीचे

मेरे गाँव का धोबी जो शादी ब्याह में लौंडा नाच भी करता है।

सोने का लुत्फ उठाया जाता था। मच्छर शायद उस समय बहुत कम थे या लोगों को उसके काटने का एहसास नहीं होता था। लोग बाहर या आँगन में बड़े चैन की नींद सोते थे। अब गाँव में एक दो घर छोड़कर सबके घर ईंट सीमेंट के बन गये हैं। डेहरी की जगह अल्यूमिनियम और लोहे के बड़े बड़े कंडाल आ गये जिनमें लोग अनाज रखते हैं। हर घर में बिजली है टीवी है, हर हाथ में मोबाइल है। शाम को बाहर बच्चों की धमा–चौकड़ी की जगह अब गहरी खामोशी है क्योंकि बच्चे स्कूल से लौटने के बाद या तो होमवर्क कर रहे होते हैं या टीवी देखने में व्यस्त हो जाते हैं। अब मेरे बचपन की तरह जब बिजली नहीं थी और गोधूली बेला में अपशकुन के डर से कुछ भी डालने की मनाही थी, लिखना, पढ़ना, भोजन करना मना था, बच्चे अँजोरिया अँधेरिया, ओल्हा पाती, गिल्ली डंडा, कंचे, गोट्टी, छुप्पम छुपाई नहीं खेलते। संयुक्त परिवार टूटकर एकल में तब्दील हो गये हैं और हर व्यक्ति को एक कमरे की जगह एक घर की जरूरत महसूस होने लगी है जिसमें आँगन हो न हो बाकी सब कुछ होना चाहिये। मेरे गाँव में भी कुछ लोगों ने वैसे ही घर बनवा लिये हैं।

सुनहरी यादें

मै खयालों में खोयी घर के खिड़की दरवाजों में अपने माँ पिता की साँसों की गर्माहट तलाशती स्मृतियों के पन्ने पलटती रही। मैं इस बार छह साल पर गाँव लौटी थी। शादी के बाद लड़कियों के दो गाँव हो जाते हैं परंतु जिस गाँव में माँ पिता के स्नेह की छाँव में आप दुनिया को पहली बार देख समझ रहे होते हैं वह ताउम्र आपको अपनी जड़ों से बांधे रहता है। हम स्त्रियाँ चाहे जितनी उदारता दिखायें, हमारे हृदय में तो सदा मायके का गाँव ही धड़कता है। कभी कभी सोचती हूँ काश आजादी के बाद विकास के पहिये का रुख हमारे गाँवों की ओर हुआ होता तो आज इक्कीसवीं सदी में गांव इस तरह वीरान उजड़े दयार नजर नहीं आते। प्रेम, सौहार्द, एक–दूसरे के लिये अपनत्व, सुख दुख में एक–दूसरे का साथ, गंगा जमुनी तहजीब और सीधा सादा निष्कपट, निश्छल ग्राम्य समाज आज इतना आत्मकेन्द्रित, बँटा हुआ, इर्ष्यालु, दिखावटी और परेशान दिखायी नहीं देता।

मैं अपने गाँव की उस प्राइमरी पाठशाला को देखने निकल गयी जिसमें मैंने दूसरी से पाँचवीं क्लास तक पढ़ाई की थी। उसी समय गाँव को करीब से देखा था। बाद में गर्मी की छुट्टियों में गाँव जाना होता था। मेरी पढ़ाई की शुरुआत पूना के आर्मी स्कूल से हुई थी। शादी के बाद दो चार दिन के अलावा कभी गाँव में ज्यादा दिन रहना नहीं हुआ। जब मैं पढ़ती थी तब गाँव के स्कूल में एक ही कमरा होता था और एक उसका बारामदा परंतु अब इसमें कई कमरे बन गये हैं। लड़के और लड़कियों के अलग अलग स्कूलों के नाम हैं परंतु जगह वही पुरानी थी। उस समय प्राइमरी स्कूल हमारे आम के घने बगीचे में इमली के पेड़ के पास बना हुआ था। पहली से तीसरी कक्षा के बच्चे आम के पेड़ के नीचे घर से लायी गयी बोरियों पर बैठकर पढ़ाई करते थे जबकि चौथी पाँचवीं के स्कूल के अंदर। अब वहाँ एक भी पेड़ नहीं है। मुझे स्कूल के अहाते को देखकर पव्हारी पंडीजी याद आ गये जो बच्चों को गोलाई में बैठाकर जोर जोर से पहाड़े याद करवाते थे और जरा सी भी चूक होने पर हरे बांस की छड़ी पीठ पर बरसाने से भी नहीं चूकते थे। उन्हीं की मेहनत थी या छड़ी का डर आज भी मुझे सारे पहाड़े और हिंदी की कवितायें अच्छी तरह याद हैं। अब मेरे गाँव के अगल बगल दूसरे गाँवों में मिडिल और हाई स्कूल खुल गये हैं इससे लड़कियों को भी आगे पढ़ने की सहूलियत हो गई है। मुझे यह देखकर अच्छा लगा कि गाँव के सभी तबके अपने बच्चों की शिक्षा के प्रति जागरूक हैं। पिछड़े वर्ग का मेहनतकश समुदाय जो पहले भूमिहीन था आज बटाही अथवा लगान पर कई लोगों की जमीनें लेकर खेती करके असली किसान की भूमिका में आ गया है। वह अपने बच्चों को स्कूल तो भेजता ही है ट्यूशन भी कराता है। परंतु जो बच्चे अधिक पढ़ लिख जाते हैं उन्हें किसानी रास नहीं आती क्योंकि उन्हें खेत में काम करने में शर्म आती है और किसानी बहुत घाटे का काम लगता है। वे उसकी जगह शहर में ठेला लगाना ज्यादा पसंद करते हैं अगर सरकारी नौकरी नहीं मिली तो।

मेरे पिताजी के बचपन तक उत्तर प्रदेश के स्कूलों में हिंदी के साथ साथ उर्दू की तालीम भी दी जाती थी। शायद यह भी एक वजह थी जिसके कारण उस समय हिन्दू–मुस्लिम दोनों समुदायों में बहुत आत्मीयता थी। लोग एक–दूसरे को चचा भैया भौजी कह कर संबोधित करते थे। तीज त्योहार शादी व्याह में लोग एक दूसरे के घर आते जाते थे। कई हिन्दू भी ताजिये खेलते थे और ईद के अवसर पर उनके यहाँ से हमारे यहाँ सूखी सिवइयां भी आती थीं। मेरी बडकी माई हम लड़कियों को कुछ मुस्लिम घरों में कशीदाकारी सिखाने के लिये ले जाती थीं।

मैं घूमते हुए अपने घर के बगल के सामने खड़ी हो गयी। पहले वहाँ एक लंबे बारामदे से जुड़े हुए हुए दो कच्ची मिट्टी के कमरे बने हुए थे जिसमें एक में झगडू काका अपनी दुधारू गाय भैंस बांधते थे और दूसरा खाली रहता था जो राहगीरों के लिये धर्मशाला और बच्चों के लिये खेलने के काम आता था। उसको हम बंगला कहते थे। बंगले के सामने बड़ी सी सहन थी जिसमें कच्ची जूट से बुनी कई चारपाइयां और चौकियाँ पड़ी रहती थीं। शाम होते ही उत्तर टोला के बच्चे और बूढ़े बूढियों का वहाँ जमघट लग जाता। जब झगडू काका और इया जिंदा थे तब की बात ही निराली थी। कुएं पर ढेकुली लगी हुई थी और उनके अहाते में खूब सारी सब्जियाँ होती थीं। उनके पास अपनी बैलगाड़ी भी थी जो बहू बेटियों को बेल्थरा रोड रेलवे स्टेशन से लाने के अलावा गोबर की कम्पोस्ट खाद ढोने के काम भी आती थी। गाँव में लगभग सभी लोगों के दरवाजे पर गाय भैंस के अलावा बैल भी होते थे जिनके पास थोड़ी बहुत जमीन होती थी। काका अपने अहाते में अन्य सब्जियों के साथ जामुनी रंग के एक एक किलो के गाजर भी उगाते थे जिसे उनकी दूध देने वाली गाय और भैंसें खाती थीं। मिंयाटोली में एक पहलवान थे जो बहुत अच्छा आल्हा ऊदल गाते थे। इया के सौजन्य से बंगले के बरामदे में उनकी कई बार महफिल सजती। अब बंगले की जगह पक्का मकान बन गया है जिसमें खूब बड़े गेट लगे हुए हैं। अंदर कमरे में सोफा लगा हुआ है और दीवार के सामने बड़ा सा टीवी। उनके घर के अहाते में शुद्ध लेबरा नस्ल का काला कुत्ता बंधा था।

मैं भौजी के घर खाना खाकर फिर भतीजियों के साथ बैठकर गाँव को याद करने लगी। आज मुझे अम्मां ताजी के साथ साथ बड़की माई बहुत याद आ रही थीं। वो बच्चों को बहुत प्यार करती थीं। मेरे संयुक्त परिवार वाले घर में सबसे उम्रदराज थीं इसलिये मलिकाइन कहलाती थीं। गाँव में जब भी चनाजोर गर्म, गुड़ की पट्टी, लकठा, इमरती तथा बुढ़िया के बाल बेचने वाले, बाइस्कोप दिखाने वाले आते थे, माई तुरंत अपने आँचल की गाँठ खोलकर हमें पैसे दे देती थीं। पैसा नहीं होने पर हम डलिया भर अनाज से भी अपनी मनपसंद मिठाइयाँ खरीद लेते थे। माई हमलोगों को रोज कहानी सुनाती थी। वही हमें मेला भी दिखाने ले जाती थी। हम मेले में घड़ी, चश्मा, पानी वाली गेंद और बांसुरी जरूर खरीदते थे। चैत में सोनाडीह में पन्द्रह दिनों तक मेला

सुनहरी यादें

लगता था। गाँव के लिये मेले मनोरंजन के साथ साथ अपने जरूरत की चीजें खरीदने और बेचने की जगह भी होते थे। माई हम बच्चों की जान थी। लड़कियों के लिये गोधन, पिड़िया की तैयारी से लेकर सावन में नागपंचमी में झूले डालने में भी खूब रुचि लेती थी।

उस समय शादी ब्याह में बारात तीन दिन तक रुकती थी। लड़कियों की शादी में पूरा गाँव सहयोग करता था। जिनके घर दूध देने वाले जानवर थे, वे एक दिन का दूध शादी वाले घर में मुफ्त में देते थे। सब्जी बोने वाले सब्जी का इंतजाम करते। खाना पीना टोले की महिलायें मिल–जुलकर बनाती थीं। शादी विवाह के लगन आमतौर पर गर्मी के महीने में उस समय ज्यादा होते थे जब किसान रबी की फसल घर लाकर निश्चिंत रहता था। शादी के विधि विधानों में गाँव के सभी लोगों की भागीदारी होती थी। गांव के हरिजन समुदाय से आनेवाले जब डुगडुगी बजाते थे तभी मानर (ढोलकी) पूज कर शादी के सभी शुभ कार्यों की शुरुआत होती थी। बढ़ई जो आम का पीढ़ा लाता था उसी पर दूल्हा दुल्हन बैठ कर शादी के बंधन में बंधते थे। कुम्हार के बनाये हाथी घोड़े मंडप में रखे जाते थे। दूल्हा दुल्हन डोली में चढ़कर मुख्य सड़क पर खड़ी गाड़ी तक जाते थे। डोली कहार ढोते थे। लेकिन अब गाँव में भी शहर की तरह सिर्फ एक दिन वाली शादी होती है। जयमाला होता है। कैटरर आकर खाना बनाते खिलाते हैं। शादी विवाह बस दिखावे का उत्सव बन कर रह गया है। वो धागा जिससे गाँव का हर वर्ग जुड़ा होता था अब अगड़ी, पिछड़ी, हिन्दू मुस्लिम, कई टुकड़ों में बंट चुका है।

भौजी कुछ बीमार दिख रही थीं। उन्होंने अपने पोते को दुकान भेजकर ब्रूफेन मंगाया। पूछने पर पता चला गाँव के किराने की दुकान में एन्टीबायोटिक्स से लेकर कई तरह की दवाइयाँ मिल जाती हैं। शराब की कई गुमटियाँ भी सड़क के बगल में खुल गयी हैं। शाम का धुँधलका छाने लगा था मेरी बहन बीना जो मऊ में रहती थी मुझे जल्दी चलने के लिये कई बार बोल चुकी थी। मैं घरों की छत के ऊपर उठने वाले उस धुंए की लकीर का इंतजार कर रही थी जो मेरे बचपन में चूल्हे जलने का संकेत देती थीं। मुझे इक्का दुक्का छोड़कर किसी घर के ऊपर वह धुँआ दिखायी नहीं दिया। हाँ कुकर की सीटी जरूर सुनायी दी। बच्चों के चहकने की जगह टीवी पर बजते फिल्मी गानों का शोर सुनायी दिया। अम्मां नहीं थीं इसलिये हम दोनों बहनें बिना खोंइछा भरे ही रुँधे गले से अपने गाँव से विदा हो लीं। भौजी गले लग कर खूब रोयीं और मुझे भी रुलाती रहीं। मेरा गाँव अब पहले से बहुत खुशहाल है। लोगों का रहन सहन खान पान सबकुछ बदल गया है। औरतें घूँघट नहीं करतीं, बाजार जाकर खुद सामान खरीद लाती हैं। अब बेल्थरा रोड जाने के लिये आठ किलोमीटर पैदल नहीं चलना पड़ता। सब कुछ है, परंतु मुझे तो अपने बचपन का वो बताशा, पटउरा, सजाव दही, बीजू आम और अम्मां के हाथ की बनी हथरोटिया ही याद आती है। उसकी जगह समोसा और पकौड़े तो कभी नहीं ले सकते। मेरा गाँव अब मेरा नहीं भौजी के पोते पिंकू का गाँव ज्यादा लगता है।

पुराने दिन

अब ना कोस–कोस पर पानी बदले, न चार कोस पर वाणी

विलुप्त हो रहीं भारतीय बोलियां

डॉ. ओम निश्चल

बिना अपनी भाषा या भाषाओं के कोई भी देश गूंगा है। फर्ज कीजिए भारत के हिंदी भाषी प्रदेशों में सब जगह अंग्रेजी फैल जाए, सब अंग्रेजी बोलते मिलें, गांव, कस्बे, शहर सब जगह केवल अंग्रेजी हो तो यह देखकर क्या किसी भारत का आभास होगा। क्या इससे भारतीय संस्कृति का अहसास होगा। नहीं। इससे धीरे–धीरे भारतीयता और भारतीय संस्कृति के विलोपन का अहसास होगा। यही वजह है कि महात्मा गांधी हिंदी और हिंदुस्तानी के समर्थक थे। सर सुंदरलाल ने भी हिंदुस्तानी को बढ़ावा देने का काम किया। गांधी मुसलमानों के रहन–सहन, उनकी स्वीकार्यता को लेकर उदार थे, अपने प्रवचनों, अपनी बातचीत में वे हिंदुओं और मुसलमानों में एकता देखना चाहते थे।

हुकूमत की भाषा का अपना रोड रोलर होता है। अंग्रेजी का रोडरोलर भारतीय भाषा–भाषियों पर जो चला, वो आज भी चल रहा है। आज भी वह भारत की राजभाषा है जिसे 1965 में खत्म हो जाना चाहिए था तथा हिंदी को उसकी जगह मिल जानी चाहिए थी।

खड़ी बोली में लेखन का इतिहास भले एक डेढ़ सदी पुराना हो, पर लेखन में हिंदुस्तानी लहजा सदियों पुराना है। सूरद. ास, कबीर, तुलसीदास, नानक, रैदास, मीरा ने जिस भाषा में लिखा, वह कोई संस्कृतनिष्ठ हिंदी नहीं, बल्कि आम लोगों की समझ में आने वाली हिंदी थी। यही वजह है कि सदियों पहले लिखे गए संत साहित्य का प्रसार पूरे देश में तब हुआ जब संचार का आज जैसा कोई त्वरित साधन न था। इन संतों को यह समझ थी कि हिंदी/हिंदुस्तानी में लिख कर पूरे देश में पहुंचा जा सकता है,

पुराने दिन

किसी अन्य भाषा में नहीं। एक प्रवचन में गांधी जी ने हिंदुस्तानी की हिमायत में कहा था, ''हमारे यहां हिंदी और उर्दू ये दो भाषाएं हैं जो हिंदुस्तान में बनीं और हिंदुस्तानियों द्वारा बनाई गयी हैं। उनका व्याकरण भी एक ही रहा है। इन दोनों को मिलाकर मैंने हिन्दुस्तानी चलाई। इस भाषा को करोड़ों लोग बोलते हैं। यह एक ऐसी सामान्य भाषा है जिसे हिंदू और मुसलमान दोनों समझते हैं। यदि आप संस्कृतमय हिंदी बोलें या अरबी फारसी के शब्दों से भरी हुई उर्दू बोलें, जैसा कि प्रो. अब्दुल बारी बोलते थे तो बहुत कम लोग उसे समझेंगे। तो क्या हम द्राविड़स्तान की चारों भाषाओं का अनादर कर दें। मेरा मतलब यह है कि वे मातृभाषा के तौर पर अपनी अपनी प्रांतीय भाषा को रख सकते हैं, मगर राष्ट्रभाषा के नाते हिंदुस्तान को जरूर सीख लें।''

गांधी ने हिंदुस्तानी की ताकत संत कवियों को पढ़कर पहचानी थी कि कैसे देश भर में संत कवियों की पहुंच रही है। उत्तर–दक्षिण, पूर्व–पश्चिम हर तरफ संतों के संदेश पहुंच जाते थे। संतों के परिव्राजक स्वभाव की तरह हिंदी भी परिव्राजकों के पीछे पीछे चलती रही है। यही वजह है कि यह हिंदी मीरा की जबान पर थी, तो सूरदास की जबान पर भी। नानक के पदों में यही हिंदी थी (चाहे वह गुरुमुखी में ही क्यों न हो) तो कबीर की साखी सबद रमैनी में भी यही हिंदी रही है। संत रविदास काशी के थे तो कबीर का भी काशी और मगहर से नाता था। तुलसी बांदा के रहने वाले थे तो मीरा राजस्थान की। सूरदास का नाता मथुरा से था तो सुंदरदास का दौसा, राजस्थान से। दादू के शिष्य रज्जब भी राजस्थान के थे। नानक का रिश्ता लाहौर से था तो मलूकदास का इलाहाबाद से। ये सभी संत 13वीं शताब्दी से लेकर 16वीं शताब्दी के बीच हुए तथा अपनी सधुक्कड़ी भाषा में रचनाएं लिखीं। पढ़े–लिखे कवियों के बीच आज भी निर्गुण सगुण धारा के भक्त एवं संत कवियों की रचनाएं जीवन की सच्ची सार्थकता का पाथेय हैं। हम जानते हैं कि सहज सरल भाषा में लिखी गयी प्रार्थनाओं का असर होता है। प्रार्थनाएं मन की शुद्धि के लिए होती हैं।

आज से सदियों पहले कबीर ने कहा था, ''संस्कीरत है कूप जल, भाखा बहता नीर''। पर हिंदी के निबंधकार कुबेरनाथ राय कबीर की इस अवधारणा से सहमत नहीं। वे संस्कृत को कुएं का जल कहे जाने के संकुचित दृष्टिकोण के खिलाफ थे। उन्होंने इस शीर्षक से एक पूरा निबंध ही लिखा है। यद्यपि संस्कृत सारी भारतीय भाषाओं की जननी तो है, पर कुएं की जल की तरह है। आसानी से अलभ्य। पर संस्कृत वाड्.मय सहस्रबाहु है। यह और बात है कि संस्कृत में संस्कारित न होने के कारण संस्कृत के इन वाग्गेयकारों के सृजन एवं चिंतन का लाभ भारत की जनता नहीं उठा सकी। हमारे समय के बड़े कवि तुलसीदास ने इसीलिए संस्कृतज्ञ होने के बावजूद संस्कृत जैसी सुसंस्कृत भाषा में न लिख कर अवधी बोली में लिखा जो कि हिंदी की पोषक बोली है। कबीर की भाषा भी सधुक्कड़ी है। वे भोजपुरी अंचल में जन्मे पर भाषा बहुत ही साफ सुथरी और सहज रखी जिससे आम जनता को उनकी बात समझ में आ जाए।

प्रायः कबीर ने अपने समय की खड़ी बोली में लिखा। भोजपुरी में भी नहीं, पर हां उनकी भाषा को लोक बोलियों ने सींचा है। बोलियां हमारी संस्कृति का आईना हैं। अवधी बोली से अवध संस्कृति का प्रसार हुआ तो भोजपुरी, मगही, मैथिली आदि बोलियों/भाषाओं से भोजपुरी, मगही एवं मैथिली संस्कृति का प्रसार हुआ। ये बोलियां सच कहें तो हिंदी की प्राणवायु हैं। हमारी भारतीय संस्कृति की धड़कनें हैं। सही मायने में यही हमारी जनभाषाएं हैं। लोक बोलियां हैं। पर विडंबना है कि जैसे तमाम अस्मिताएं अपनी पहचान आधुनिकता के आच्छादन में लुप्त हो रही हैं, हमारी तमाम बोलियां व भाषाएं भी लुप्त होने के कगार पर हैं।

कहना न होगा कि लोक गीत लोक संस्कृति के विधायक तत्व हैं। हमारे जीवन के सारे संस्कारों का लोक बोलियों से गहरा रिश्ता है। हम राम नरेश त्रिपाठी द्वारा संकलित ग्राम गीत के सभी खंड देखें तो कैसे जन जीवन के हर संस्कार, गतिविधि, यज्ञोपवीत, विवाह, विदाई, संतान जन्म, कटाई, रोपाई, निराई गुड़ाई के लिए लोकगीतकारों ने गीत रचे। यानी हमारे जीवन के प्रत्येक उत्सव में गीत संगीत का अपना योगदान है। आज बिहार की शारदा सिन्हा गाती हैं तो उनके कंठ से भोजपुरी व बिहार की लोक भाषाओं व संस्कृतियों का परिचय मिलता है। उनके साथ पूरी भोजपुरी संस्कृति गाती है, मालिनी अवस्थी गाती हैं तो उनके साथ जैसे पूरा पूर्वी भारत गाता है। पूरी अवधी संस्कृति गाती है, पूरा लोक गाता है।

भाखा बहता नीर से जिस निर्मल प्रवाही भाषा का आशय लिया जाता है, आज वैसी निर्मलता नदियों के जल में कहां। जैसे हमारी भाषा मटमैली हो रही है। आज अंग्रेजी के मोह में हिंदी में आगत एक नई हिंगलिश का जन्म हो चुका है। हिंदीभाषी पढ़े लिखे लोग भी शुद्ध हिंदी या हिंदुस्तानी बोलने में हिचक का अनुभव करते हैं। कहना न होगा कि भारतीय संस्कृति अपनी बोलियों में सुरक्षित है। जब तक हम अपनी बोलियों से अपना रिश्ता बनाए रखेंगे भारतीय संस्कृति, हिंदुस्तानी संस्कृति को कोई खतरा नही है। बिना लोक भाषाओं, बोलियों, लोक कथाओं, लोक गीतों, व कहावतों के कोई भाषाई संस्कृति बनती है भला।

इन लोकतत्वों व लोक वार्ताओं में हमारी भारतीय संस्कृति के गुणसूत्र छिपे हैं। लोक कथाओं में हमारे यहां पंचतंत्र हैं तो पौराणिक कहानियां भी। उपनिषद भी ऐसी ही कथाओं का केंद्र हैं। इन कथाओं में आचरण की शुद्धता, नैतिकता, सत्य, असत्य, लाभ, लोभ, उदारता, सामूहिकता, सहिष्णुता का बखान किया गया है। हमारी संस्कृति के नायक राम, कृष्ण, बुद्ध, नानक, रैदास, मीरा, नामदेव, याज्ञवल्क्य, शंकराचार्य, सावित्री, जाबाला आदि चरित्र हैं। इस तरह हमारे लोक व्यवहार, लोक कथाएं, लोक वार्ताएं, भारतीय संस्कृति के आधारभूत अंग हैं।

पुराने दिन

जहां–जहां भारतवंशी हैं, वहां–वहां भारतीय भाषाओं प्रमुखतया, हिंदी, भोजपुरी, अवधी, ब्रज, भारतीय पूजा पद्धतियों, व्रत, त्योहारा. ं, रीति रिवाजों, लोक व्यवहारों का प्रचलन है। यहां से हमारे पुरखे अपनी स्मृतियों में धारण कर यहां के लोकगीत ले गए, भजन और संध्या, अर्चन नीराजन के लिए प्रविधियां अपनाईं इसलिए कि इन प्रतीकों में ही हिंदुस्तानी संस्कृति के तत्व निहित हैं। इसलिए लोक भाषा ही वह बहता हुआ नीर है जो जन जन में व्याप्त है।

भारतीय संस्कृति आखिरकार लोक संस्कृति है जिसमें किसान मजदूर कामगार सभी आते हैं। नीचे ऊँचे तबके सभी वर्ग के लोग आते हैं। लोकगीत हमारी वाचिक परंपरा का हिस्सा हैं। यह परंपरा बाहर नहीं है। हमारे यहां जैसे श्रुतियां, वेद, आरण्यक, उपनिषद, कथा सरित्सागर, पंचतंत्र आदि वाचिक परंपरा से होते हुए लिखित रुप में आए, वैसे ही लोकगीत, संस्कार गीत भी लाखों कंठों से होते हुए यात्रा करते रहे।

जहां तमाम स्थलों पर स्त्री का एक दयनीय संसार व्यंजित है वहीं गांव देहात की दुनिया में राम, सीता और कृष्ण लोकगीतों के नायक नजर आते हैं। जीवन के हर उत्सव के गीत लोकगीतकारों ने रचे हैं। कहीं राम का विवाह हो रहा है, कहीं कृ ष्ण मनिहारी बने साड़ी बेच रहे हैं तो कहीं ग्वालिनें दही बेचने निकली हैं।

राधा कृष्ण के मिलन के गीत रचे गए हैं तो सामान्य स्त्रियों के विरह गीत भी। परदेस गए पतियों के लिए विरहगीत गाए जाते हैं। कुछ गीतों में स्त्री का प्रतिरोध भी दिखता है। इसी तरह तमाम रीति रिवाजों पर गाए जाने वाले गीत हैं जिनका लोक जीवन के उत्सवों से रिश्ता है। चाहे वह छठ का त्योहार हो, होली दीवाली का या जीउतिया का, ये लोकगीत संस्कारों में पगे हैं। इनकी भाषा पर मत जाइये, इनमें रचे बसे भावों पर जाइये।

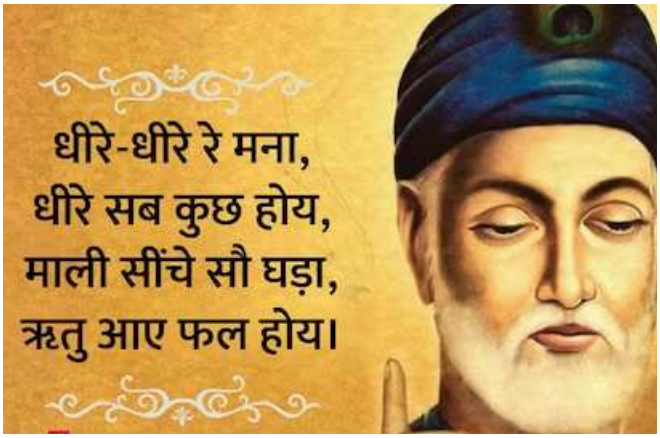

इनमें भारतीय मन रचा बसा है। क्या विडंबना है कि जो हिंदी कभी स्वतंत्रता संग्राम में मानव मुक्ति के लिए संघर्ष की भाषा रही है, वह खुद इन दिनों उपनिवेशवाद, साम्राज्यवाद और बाजारवाद से मुक्ति के लिए छटपटा रही है। कैरेबियाई देशों में हिंदी हिंदुस्तानी और भारतीयता को बचाने में रामचरित मानस, श्रीमदभगवत गीता, हनुमान चालीसा के साथ साथ हिंदुस्तानी त्योहारों, रीति–रिवाजों का बड़ा योगदान है। यह और बात है कि इन देशों की प्रशासनिक कामकाज की भाषा भलें ही अन्य हो, भारतवंशियों की अपनी बोलचाल की भाषा हिंदी ही है। तुलसी, कबीर, मीरा, रैदास, नानक की बानी के प्रति यहां सदभाव है। इनके अपने पूजाघर हैं तो भारतीयता की प्रतीक तुलसी भी इनके घरों में देखी जा सकती है। आज फिर भूमंडलीकरण, बाजारवाद के चलते भारतीय संस्कृति की सम्प्रभुता खतरे में है, ऐसी स्थिति में अपनी भाषाओं, अपनी संस्कृतियों, अपनी अस्मिताओं को बचाने की एक लंबी मुहिम की आवश्यकता है।

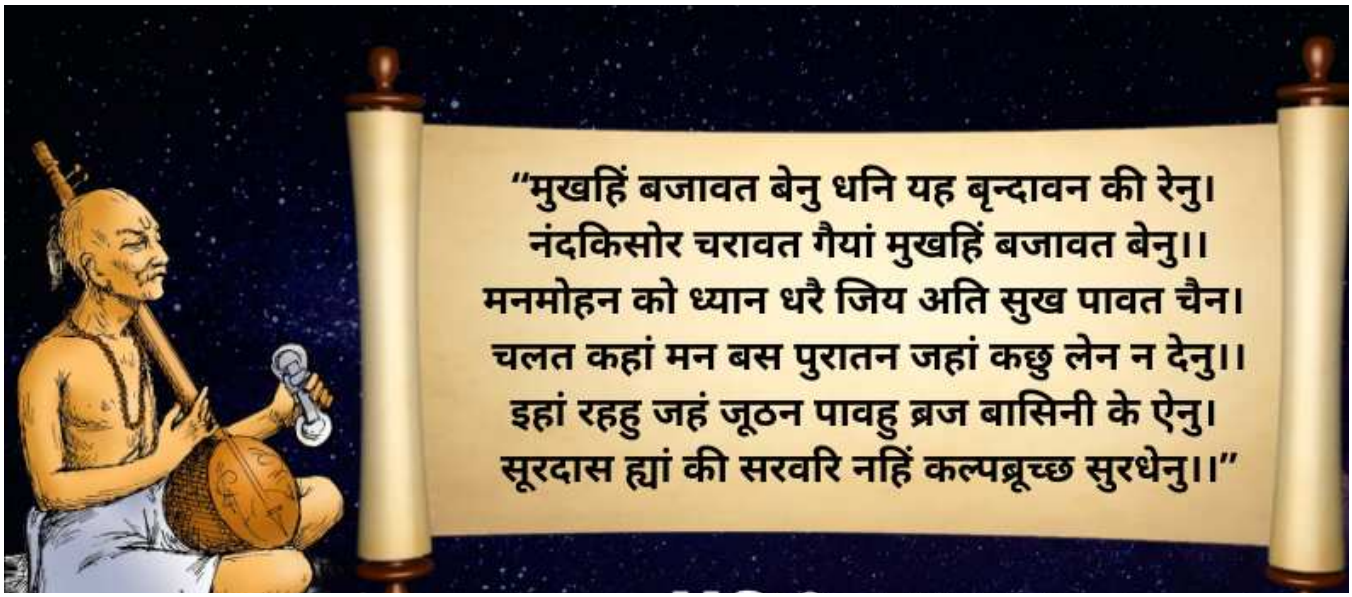

सुर के बिना जीवन सूना

बिसरती गायकी विधाएं : छूटते लोकगीत

रघुवीर सिंह

गायन की अनेक विधाएं अब लुप्त होने की कगार पर हैं। ऐसा नहीं कि अब उन्हें सुनने वाले नहीं रहे, बल्कि आधुनिक शैलियों के छा जाने की वजह से परंपरागत लोकगायकों और शास्त्रीय विधाओं को पोसने–प्रसारित करने वालों को गुजारे लायक आमदनी भी नहीं हो पा रही, इसलिए वे उन्हें छोड़ रहे हैं। कुछ साल पहले तक लोकप्रिय कव्वाली और गजल गायकी जैसी विधाएं भी अब हाशिये पर पहुंच गई है।

कव्वाली के अब पहले जैसे मुकाबले नहीं होते, गजल की नजाकत कहीं गुम हो गई है और टप्पा की तैयारी दम तोड़ने लगी है। त्रिवट और चतुरंग के रंग बे–रंग हो गए हैं, तो बिरहा विरह–वेदना झेल रहा है और आल्हा के वीर स्वर इतिहास के पन्नों में कैद हो चुके हैं। होरी और चेती को तो शास्त्रीय और उपशास्त्रीय गायकों ने बचा लिया, लेकिन फाग और कजरी अपनी ऋतुओं में भी बेमोसमी हो गए है। राजस्थान के मांड का जोश अब खत्म हो गया है, तो हरियाणा के सांग की मस्ती भी न जाने कहां खो गई है। जीवन के प्रत्येक कार्य और अवसर पर लोगों को प्रोत्साहन, जोश और सुकून देने वाले तमाम भारतीय शास्त्रीय और लोकगायन के स्वर थमते जा रहे हैं, लेकिन नई पीढ़ी उनको अपने गले में पिरोने को तैयार नहीं है। उचित मान–सम्मान और गुजारा

भारतीय संगीत में रागों का निर्माण ऋतुओं और समय के अनुसार हुआ, तो लोक संगीत में संस्कार, आनुष्ठानिक, क्रिया, खेत गीत आदि बने, लेकिन अब इन गीतों की श्रृंखला टूट चली है। बच्चे के जन्म, मुंडन, कनछेदन, जनेऊ के समय गाया जाने वाला सोहर अब सुनाई नहीं देता। शादी के वक्त गाए जाने वाले धोबिया, बनरा, गारी, अचरी, परछन, कलेवा, मंत्री पूजन, माटी मांगल्य के बोल भी अब सुनाई नहीं पड़ते।

सुर के बिना जीवन सूना

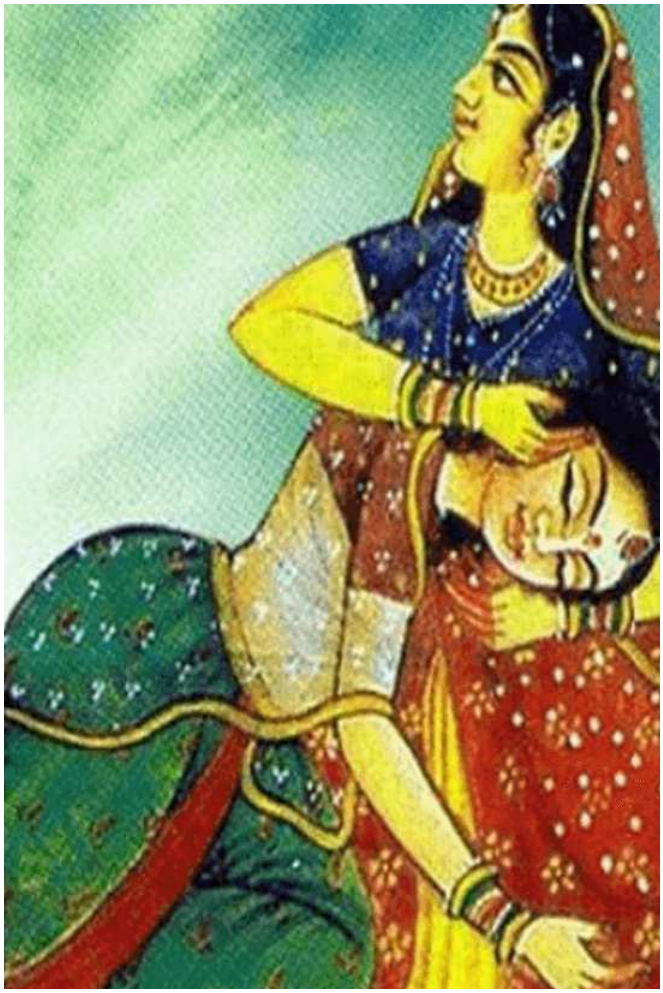

करने लायक पैसा तक न मिलने के कारण इन पारंपरिक शैलियों के गायक भी यह कला अगली पीढ़ी को स्थानांतरित नहीं करना चाहते हैं।

मान्यता है कि प्रकृतिजन्य, नैसर्गिक रूप से लोककलाएं पहले उपजीं, परंपरागत रूप में उनका क्रमिक विकास हुआ और फिर अपनी उच्चतम गुणवत्ता के साथ वे शास्त्रीय रूप में ढल गई। प्रदर्शनकारी कलाओं पर भरतमुनि का ग्रंथ 'नाट्यशास्त्र' पंचम वेद माना जाता है। इसमें भरतमुनि ने स्वीकार किया है कि लोक जीवन में उपस्थित तत्त्वों को नियमों में बांध कर ही शास्त्र प्रवर्तित होता है। चैती, कजरी, फाग, होरी गीतों के लोक स्वरूप में ताल पक्ष के चुंबकीय गुण के कारण ही ये सभी उपशास्त्रीय संगीत में स्थान पा सके। पुष्प मंजरी, बसंत की अंगड़ाई, पछुआ हवा की सरसराहट तो आज भी फागुन का स्पष्ट संकेत देती हैं, मगर फाग का राग शहर तो दूर, गांवों की चौपालों पर भी कहीं सुनाई नहीं देता।

फाग में धमार, कबीरा, जोगीरा, उलारा, बेलार, बेलवरिया आदि गीत गाए जाते थे। मार्कंडेय पुराण, भविष्य पुराण, जयद्रथतंत्र और आल्हखंड में अपना प्रकाश फैलाने वाली कजरी भी अब गुमनामी के अंधेरों में भटक रही है। ''कइसे खेले जाइबि सावन में कजरिया, बदरिया घेरि आइल ननदी''– शायद काले बादलों के बीच गाए जाने के कारण ही इसका नाम कजरी पड़ा था। वर्षा ऋतु में स्त्रियों द्वारा गाई जाने वाली कजरी में प्रेम, मिलन, विरह, सुख–दुख, समाज की कुरीतियों, विसंगतियों को लेकर लोक चेतना के पुनरुत्थान और जनजागरण के स्वर गुंजित होते थे। होरी तो धमार का संग–साथ पाकर फाग के रंग में मस्ती भरने लगी, लेकिन चैत्र मास में गाई जाने वाली चैती पहले जैसा नहीं इतराती। चैती चौदह मात्राओं की चांचर ताल में गाई जाती है, जिसके बीच–बीच में कहरवा बजती है। पूरब अंग की ठुमरी में भी चौदह मात्राओं की दीपचंदी के साथ अंत में कहरवा की लग्गी लगती है। इसी गुण के कारण चैत उपशास्त्रीय गायकों के गले का हार तो बनी, लेकिन ठुमरी की जगह नहीं ले पाई।

भारतीय संगीत में रागों का निर्माण ऋतुओं और समय के अनुसार हुआ, तो लोक संगीत में संस्कार, आनुष्ठानिक, क्रिया, खेत गीत आदि बने, लेकिन अब इन गीतों की श्रृंखला टूट चली है। बच्चे के जन्म, मुंडन, कनछेदन, जनेऊ के समय गाया जाने वाला सोहर अब सुनाई नहीं देता। शादी के वक्त गाए जाने वाले धोबिया, बनरा, गारी, अचरी, परछन, कलेवा, मंत्री पूजन, माटी मांगल्य के बोल भी अब सुनाई नहीं पड़ते। तीज–त्योहारों पर बरुआ, भीखी को तो जड़ से खत्म कर दिया गया है। हिदुली, संबनियां, झूला गीत अब ऋतुओं का स्वागत नहीं करते, तो बारहमासा, देवी, भैरव, संन्यासी भी रसातल में जा चुके हैं। चहका, चौताल और ढोल की थाप पर तेज स्वरों और धीमे आरोह–अवरोह में गाई जाने वाली नारदी भी अब लुप्त हो चली है। भोजपुरी लोक शैली के बिरहा का विरह कोई नहीं समझता, निर्गुण के गुण को नहीं जानना चाहता और झूमर भी अब नहीं झूमता है।

बिरहा के बारे में कहते हैं कि कृष्ण जब गोपियों को छोड़ कर चले गए, तो उनके विरह में उन्होंने जो गाया, वही बिरहा का आरंभ था। ढोलक की थाप, हारमोनियम की धुन और करताल की खनखन पर गाए जाने वाले बिरहा ने लंबा सफर तय किया और अपने अंदर आस्था, प्रेम, लोकरंजन, विरोध, जनवाद सभी रूप समा. हित किए–''न बिरहा की खेती करे भैया, न बिरहा फरे डारय बिरहा बसलै हिरदया में हो राम, जब तुम गैले तब गाव।'' बिरहा के साथ पूर्वांचल के चोलर, कराही, पूर्वी, कहरवा, सोहनी, रोपनी, दादरा, नटका के स्वरों की गूंज भी अब सुनाई नहीं देती है।

बिहार में प्रचलित लोक गीतों के पाँच मुख्य भेद हैं। ये हैं संस्कार गीत, पर्वगीत, श्रमगीत, प्रेम–मनोरंजन के गीत, गाथा गीत और ऋतु गीत। जन्म, जनेऊ, तिलक और विवाह के विभिन्न प्रसंगों पर गाये जाने वाले गीत संस्कार गीत के अंतर्गत आते हैं। पर्वगीतों में छठगीत सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण हैं। श्रमगीतों में जैतसार तथा रोपनी के गीतों की लय की तरंगें परिवेश में ऐसा नाद घोलती हैं कि सारी थकान घुलमिल कर विलीन हो जाती है। प्रेम–मनो.

सुर के बिना जीवन सूना

रंजन के गीतों का प्रचलन मुख्य रूप से श्रमशील पुरुषों (चरवाहे, हलवाहे, गाड़ीवान आदि) में रहा है। ये मन की मौज के अनुसार बिरहा, लोरिका (लोरिकायन) आदि भी मुक्त भाव से गाते हैं। लो. रिका, भरथरी और नैका गाथा गीतों के नायक रहे हैं। बारहमासा की परंपरा लोकगायन में भी रही है परंतु होली और चैता अलग से ऋतु गीत की पहचान बनाते हैं। बिहार के लोकगीतों के इन विभिन्न पक्षों को कबीरदास के निर्गुण पदों (निरगुन) और सूर–तुलसी के भक्ति के पदों ने इतनी गहराई तक प्रभावित किया है कि वे उसमें अभिन्न भाव से घुल–मिल गये हैं। माली जाति के लोग देवी के विशेष प्रिय भक्त माने जाते हैं। उनके गीतों में भक्ति की जो तन्मयता होती है वह अन्य किसी में नहीं देखने में आती। इन विभिन्न गीतों–गानों में ढोलक, झाल, डुग्गी, डंका (ढूँढ़), हुडुक (या हुड़का) आदि वाद्यों का प्रयोग होता रहा है।

हिंदीभाषी क्षेत्रों में रामचरित मानस के बाद सर्वाधिक लोकप्रिय बारहवीं शताब्दी की बुंदेलों की शौर्यगाथा आल्हा के स्वर भी कभी प्राणों में चेतना, बाजुओं में फड़कन और रक्त में उबाल पैदा करते थे। बुंदेली, कन्नौजी, अवधी, भोजपुरी में ढोलक, नगाड़े की थापों पर गाई जाने वाली इस विधा की लय भी अब बिगड़ने लगी है। बुंदेलखंड के हरदौल, पंवारा, ब्रज के लंगुरिया और रसिया, रुहेलखंड के लवाणी, बहतर बील, पश्चिमी यूपी के रागि. नी, ढोला और कौरवी के मल्हार की तान भी अब नहीं लगती। लमटेरा, कछियाई, कुम्हरई, कोलहाई, सैरो, छठी, डंडा पाई, गाथा, तंबूरा और गम्मत गायन के स्वर भी क्षीण हो चुके हैं।

मध्यप्रदेश के मंडला, मालवा, निमाड़ और बुंदेलखंड में चांग और डफ की धुन पर गाए जाने वाले कलगीतुर्रा का जोश ठंडा पड़ गया है। चंदेरी राजा शिशुपाल के शासनकाल में जन्मे कलगीतुर्रा में महाभारत और पुराणों की कथाएं भी अब जोश नहीं भरतीं। मालवा में दीपावली पर ढोलक, नगाड़ा और बांसुरी की धुन पर देवरी गीत गाने का रिवाज है, तो मकर संक्रांति, बसंत पंचमी और महाशिवरात्रि पर बुंबुलिया गीत और वर्षा ऋतु में बरसाती बरता गाने का। हिड गायन को कलाकार पूरे गले की आवाज में शास्त्रीय शैली में आलाप लेकर गाते हैं। बघेलखंड में बासदेव गायकों की जोड़ी सारंगी और चुटकी पैंजन के साथ रामायण, भोलेनाथ, श्रवण कुमार, कर्ण, मोरध्वज, भर्तृहरि की कहानियां सुनाते हैं। इन सभी गायन शैलियों के साथ प्रेम, बिछोह और पुनर्मिलन के गीतों से सजी बिदेसिया संरक्षण की बाट जोह रही है।

छत्तीसगढ़ के तो बाशिंदे ही सुरीले कहे जाते हैं। दीपावली पर गोंड जाति की नारियों द्वारा गाया जाने वाला करुण गीत सुआ, करमा, डंडा, पंथी आदि नृत्य के साथ गाए जाते हैं, तो गोवर्धन पूजा के दिन राउत जाति के लोग वीर रस युक्त पौरुष प्रधान राउर गीत गाते हैं, जिसमें तुरंत दोहे बनाए जाते हैं। लोक गायिका तीजनबाई ने पंडवानी और ममता चंद्राकर ने सुआ, गौरा–गौरी, बिहाव, ददरिया को संरक्षित किया है, लेकिन भोजली, जस, चनौनी, बांस, देवार, भरथरी, छत्तीसगढ़ी प्रेम गीत, जन्म के गीत, संस्कार गीत अपने लिए फनकारों की राह देख रहे है।

राजस्थान के मांड में नौ रसों का समावेश है। मन की बात कहने वाले मांड की उम्र करीब पांच सौ साल हो चुकी है। दादरा और दीपचंदी तालों में गाए जाने वाले मांड ने ''ढोला हालो ऐ सावन आयो रे'' जैसे सावन, विवाह, स्वागत, चित्रण आदि हर अवसर के लगभग ढाई हजार गीत दिए, मगर डेढ़ हजार गीत अब लुप्त हो चुके हैं। महज पांच गीत प्रचलन में हैं, जिनमें उसकी पहचान केवल ''केसरिया बालम'' तक सिमट कर रह गई है।

हरियाणवी लोक संस्कृति में तो चालीस से अधिक गायन विधाएं रही हैं। सांग को 1206 में बिहारीलाल पंडित ने जन्म दिया था, जिसने बाद में कोलकाता, मुंबई, चेन्नई तक आकार लिया। किसी पात्र के एक स्थान से दूसरे स्थान तक जाने को दर्शाने के लिए काफिया शैली बनी, तो चौबोला में कई किस्में– थानेसरी, पानीपती, हाथरसी चौबोला आदि निकलीं। अली बख्श गायन शैली मुसलिम कलाकार अली बख्श के नाम पर है, जिसने सांग–तमाशा के जरिए धन जुटा कर शिव मंदिर बनवाया था। बहर–ए–तवील सोलह मात्राओं की ताल पर गाई जाती है। इन गायन शैलियों के साथ शिव स्तुति, राधेश्याम, जोगी या जंगम जोगी, दोहा, छंद, रागिनी, दीपक, झूलना, दोड़, निहाल दे, साका, नसीरा, उलट–बांसी आदि तेईस गायकी विधाएं अब खामोश हो चुकी हैं।

उत्तराखंड में आषाढ़ और सावन में हुड़की बौल के स्वर इतिहास की वस्तु बनते जा रहे हैं। रोपाई के समय संगीत और श्रम के अद्भुत मेल की प्रचलित परंपरा रहे हुड़की बोल में भूमिया देवता से प्रार्थना की जाती थी कि सबका भला हो ''रोपारो, तोपारो बरोबरी दिया हो, हलिया बल्द बरोबरी दिया हो, हाथ दिया छाओ, बियो–दियो फारो हो, पंचनामा देवा हो।'' पिछले बीस सालों में बेर गाने वालों का तो नामो–निशान मिट चुका है। करुण गीत खुदेड़, ऋतु गायन, बसंत, चौमासा, बारामासा, न्यौली, झोड़ा जैसी गायकी विधाओं के अब केवल नाम शेष हैं।

कई शास्त्रीय और लोकप्रिय उपशास्त्रीय गायकी विधाएं भी अपना अस्तित्व बचाने की जद्दोजहद कर रही हैं। बंदिश, सरगम तथा तबले या पखावज के बोल से सजा त्रिवट और इन तीनों के साथ तराने का रंग लिए चतुरंग अब कभी–कभार ही किसी मंच पर सुनाई देता है। तराने की तान भी हांफने लगी है। रामपुर–सहसवान घराने के उस्ताद निसार हुसैन खां जैसे शास्त्रीय गायक अब गिनती के मिलेंगे। उपशास्त्रीय शैली में पंजाब का टप्पा कभी–कभार ही किसी गायक की गायकी का हिस्सा बनता है। टप्पा का अर्थ है– मंजिल तय करना। हीर रांझा, सोहिनी–महिवाल की प्रेमगाथाओं के लोकगीतों को गुलाम नबी शोरी ने पंजाबी या टप्पा, पश्तो, अद्धात्रिताल, सितारखानी तालों और खमाज, भैरवी, काफी, तिलंग, पीलू, झिंझोटी, सिंदूरा, देस जैसे खास रागों के स्वरों में बांधा।

(साभार: www.jansatta.com)

बदला व्यवहार, खान–पान, परिधान

भारतीय संस्कृति और परंपराएं अब पहले जैसी नहीं रहीं। पिछली एक सदी में ही इनमें अत्यधिक बदलाव आ गया है। कुछ प्रमुख आचार–व्यवहार जिनमें बदलावों को साफ तौर पर देखा गया है, उन्हें हम निम्न प्रकार से देख सकते हैं–

1. पहनावा: धोती–कुर्ता, पायजामा, लुंगी, लहंगा, घाघरा, बंडी, अचकन, वक्षबंधनी, ओढ़नी, उत्तरीय–अंगोछा, पगड़ी–साफा–टोपी, खड़ाऊ, मोजड़ी, सूती या खादी के कपड़े आदि पहनना तो अब लुप्त ही हो गया है। ग्रामीण इलाकों में भी अब लुप्त होने के कगार पर ही है।

2. भोजन : अब परंपरागत भोजन में से कुछ तो लुप्त ही हो गए हैं और कुछ में बदलाव हो चला है। पारंपरिक भोजन या लोक व्यंजन अब तीज–त्योहारों पर ही बनते हैं। जैसे मालपुआ, कलाकंद, कन्द, मूल, जौ या चने का सत्तू, खिचड़ा आदि। कई भारतीय सब्जियां लुप्त हो चली है। पहले 56 तरह के पकवान होते थे। मिठाईयों में भी बहुत बदलाव हो गया है। बहुत से भारतीय व्यंजन बदलकर अब विदेशी हो गए हैं।

3. मिट्टी के बर्तन या पत्तों पर भोजन : प्राचीन भारतीय समय में तांबा, पीतल, चांदी, सोना सभी के बर्तन हुआ करते थे, फिर भी लोग मिट्टी के बर्तन, खाखरे के पत्ते या केले के पत्ते पर भोजन करते थे। अब यह परंपरा भी गांवों में ही बची है। इनमें खाने के कई लाभ हैं जिनका आयुर्वेद में वर्णन मिलता है। तांबे के लोटे में पानी पीने की यह परंपरा भी लुप्त हो चली है। कांच के गिलास या स्टील के गिलास में पानी पीने का प्रचलन है।

4. नीम की दातून करना : पहले नीम या कीकर की छाल या डंडी तोड़कर उससे दांत साफ किए जाते थे। कभी–कभी 4 बूंद सरसों के तेल में नमक मिला कर भी दांत साफ किए जाते थे। इसके कई फायदे थे।

5. सुरमा लगाना : सुरमा दो तरह का होता है– एक सफेद और दूसरा काला। कभी–कभी सुरमा लगाने से आंखों के सभी रोग दूर हो जाते हैं। अब सुरमा की जगह नकली काजल लगाया जाता है। इसी तरह

सब बदल गया

महिलाओं द्वारा बालों में वेणी लगाना भी लगभग लुप्त ही हो चला है।

6. तुलसी और पंचामृत का सेवन : पहले हर घरों में प्रतिदिन तुलसी और पंचामृत का सेवन किया जाता था। इसीलिए प्राचीनकालीन घरों के आंगन में तुलसी का पौधा होता था। अब ना तो आंगन रहे और ना ही इनके सेवन का प्रचलन। इसके सेवन से शरीर की प्रतिरोधक क्षमता में बढ़ोतरी होती है, बीमारियां दूर भागती हैं और शारीरिक द्रव्यों का संतुलन बना रहता है।

7. लोकनृत्य–गान, लोक संगीत : अब लोक नृत्य या लोकगान बस राज्य के उत्सव के दौरान ही देखने को मिलते हैं। लोक संगीत या शास्त्रीय संगीत भी बहुत कुछ मुगल और पष्चिमी प्रभाव से बदल गया है और कुछ तो लुप्त ही हो चला है। लोकसंगीत में बारामासा, फाग, चैती, कजरी, विरहा, झोड़ा, छपेली, थड़िया, नाटी, लोहड़ी, बाउलगीत के पारंपरिक लोक कलाकार लुप्त हो रहे हैं।

8. लोकभाषा, लोककला और लोक खेल : लोकभाषा भी अब बदल गई है और कुछ तो लगभग लुप्त होने वाली है। इसी तरह लोककला और लोकखेल भी लुप्त हो चले हैं। पिठ्ठू, सतोलिया, गुल्लीडंडा, चार–भर, शेर–बकरी आदि खेल हमारी खेल परंपरा से बाहर हो गए।

9. संयुक्त परिवार : अपने से बड़ों के पैर छूना, बड़ों के सामने जोर से न बोलना, महिलाओं का सम्मान करना, संयुक्त परिवार में रहना, दादी–नानी का कहानी सुनाना, माताओं द्वारा बच्चों को लोरी गाकर सुलाना, हाथ जोड़कर अभिवादन करना, मटकी का पानी, बिना स्नान किये रसोई में न जाना, पहली रोटी गाय की अंतिम रोटी कुत्ते की नीयत होना, सुबह पृथ्वी पर पांव रखने से पहले पृथ्वी को नमन करना, पहले बड़े बुजुर्गो और बच्चों को भोजन कराना, तिलक लगाना, अतिथि के विदाई के समय भी तिलक करना आदि कई सामाजिक व्यवहार लुप्त हो गए हैं।

10. सोलह संस्कार : अब लोग विवाह और अंतिम संस्कार ही करते हैं और वह भी विधिवत नहीं। 16 संस्कारों में से अधिकांश तो पहले ही गायब थे, बचे–खुचे भी औपचारिकता के तौर पर ही जीवित हैं। गोदभराई की रस्म या सोहर गाने का रिवाज शहरों में कहीं दिखाई नहीं देते। हमारे सोलह संस्कार–गर्भाधान, पुंसवन, जातकर्म, सीमन्तोन्नयन, नामकरण, निष्क्रमण, अन्नप्राषन, चूड़ाकर्म (बच्चे के बाल पहली बार काटना), कर्णच्छेदन, विद्याआरंभ, केशान्त, यज्ञोपवीत, वेदारम्भ, समावर्तन, विवाह और अंत्येष्टि।

(साभार: hindi.webdunia.com)

वो भी क्या दिन थे

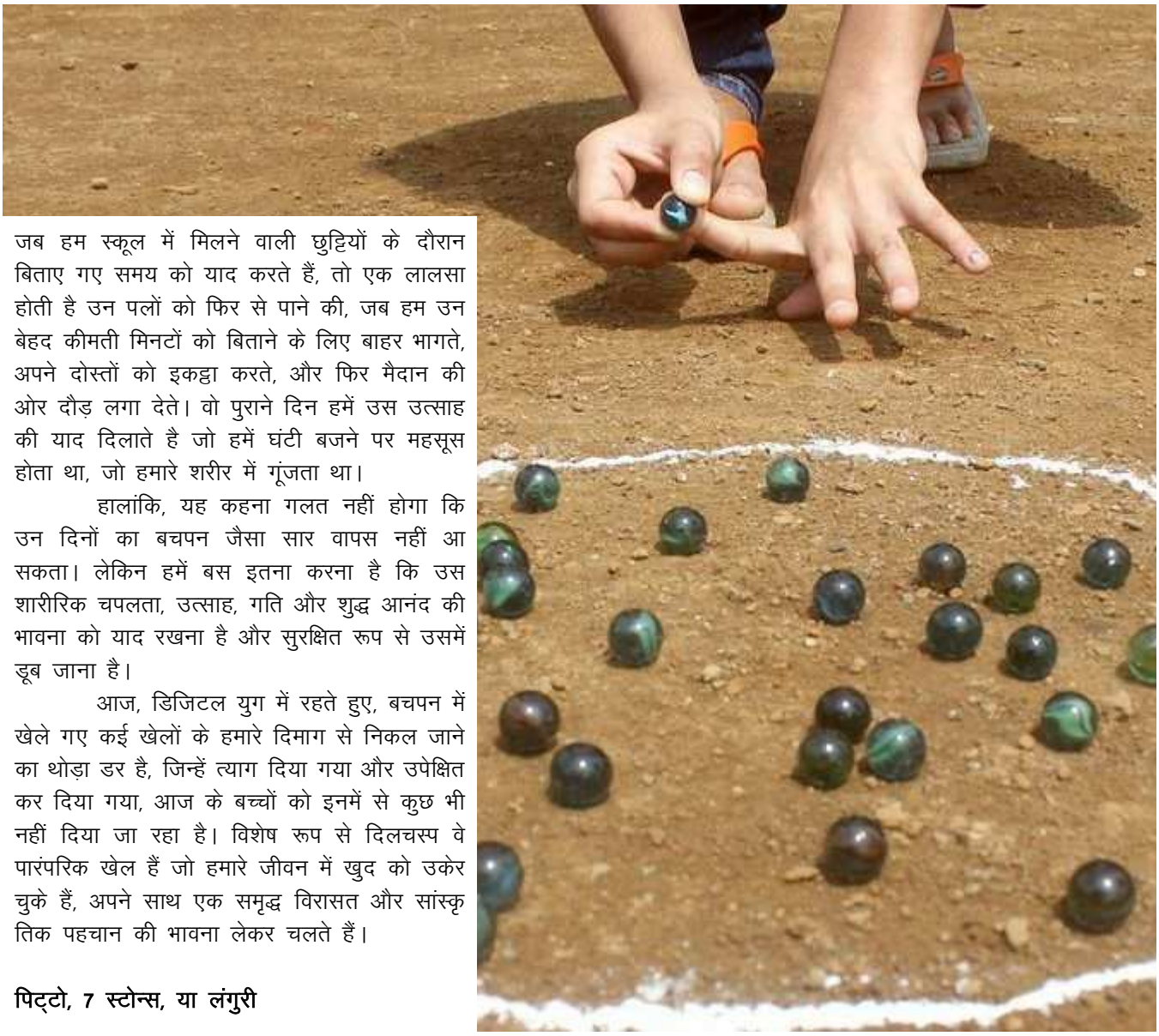

खेल: जैसा नाम वैसा ही अंदाज

जब हम स्कूल में मिलने वाली छुट्टियों के दौरान बिताए गए समय को याद करते हैं, तो एक लालसा होती है उन पलों को फिर से पाने की, जब हम उन बेहद कीमती मिनटों को बिताने के लिए बाहर भागते, अपने दोस्तों को इकट्ठा करते, और फिर मैदान की ओर दौड़ लगा देते। वो पुराने दिन हमें उस उत्साह की याद दिलाते है जो हमें घंटी बजने पर महसूस होता था, जो हमारे शरीर में गूंजता था।

हालांकि, यह कहना गलत नहीं होगा कि उन दिनों का बचपन जैसा सार वापस नहीं आ सकता। लेकिन हमें बस इतना करना है कि उस शारीरिक चपलता, उत्साह, गति और शुद्ध आनंद की भावना को याद रखना है और सुरक्षित रूप से उसमें डूब जाना है।

आज, डिजिटल युग में रहते हुए, बचपन में खेले गए कई खेलों के हमारे दिमाग से निकल जाने का थोड़ा डर है, जिन्हें त्याग दिया गया और उपेक्षित कर दिया गया, आज के बच्चों को इनमें से कुछ भी नहीं दिया जा रहा है। विशेष रूप से दिलचस्प वे पारंपरिक खेल हैं जो हमारे जीवन में खुद को उकेर चुके हैं, अपने साथ एक समृद्ध विरासत और सांस्कृतिक पहचान की भावना लेकर चलते हैं।

पिट्टो, 7 स्टोन्स, या लंगुरी

पिट्टो, आमतौर पर स्कूल परिसर के बाहर खेला जाता है। इसमें सपाट पत्थरों को इकट्ठा करना और एक दूसरे को मारने के लिए टेनिस गेंदों का उपयोग करना शामिल है। अपनी उत्साही प्रकृति के कारण, स्कूल के खेल के मैदान में पिट्टो खेलना थोड़ा आक्रामक माना जाता था।

इसे सात पत्थरों के खेल के रूप में भी जाना जाता है, यह एक प्राचीन खेल है जिसका इतिहास 5000 साल पहले लिखे गए हिंदू धार्मिक ग्रंथ भागवत पुराण में मिलता है। भगवान कृष्ण के बारे में कहा जाता है कि उन्होंने अपने दोस्तों के साथ इस

वो भी क्या दिन थे

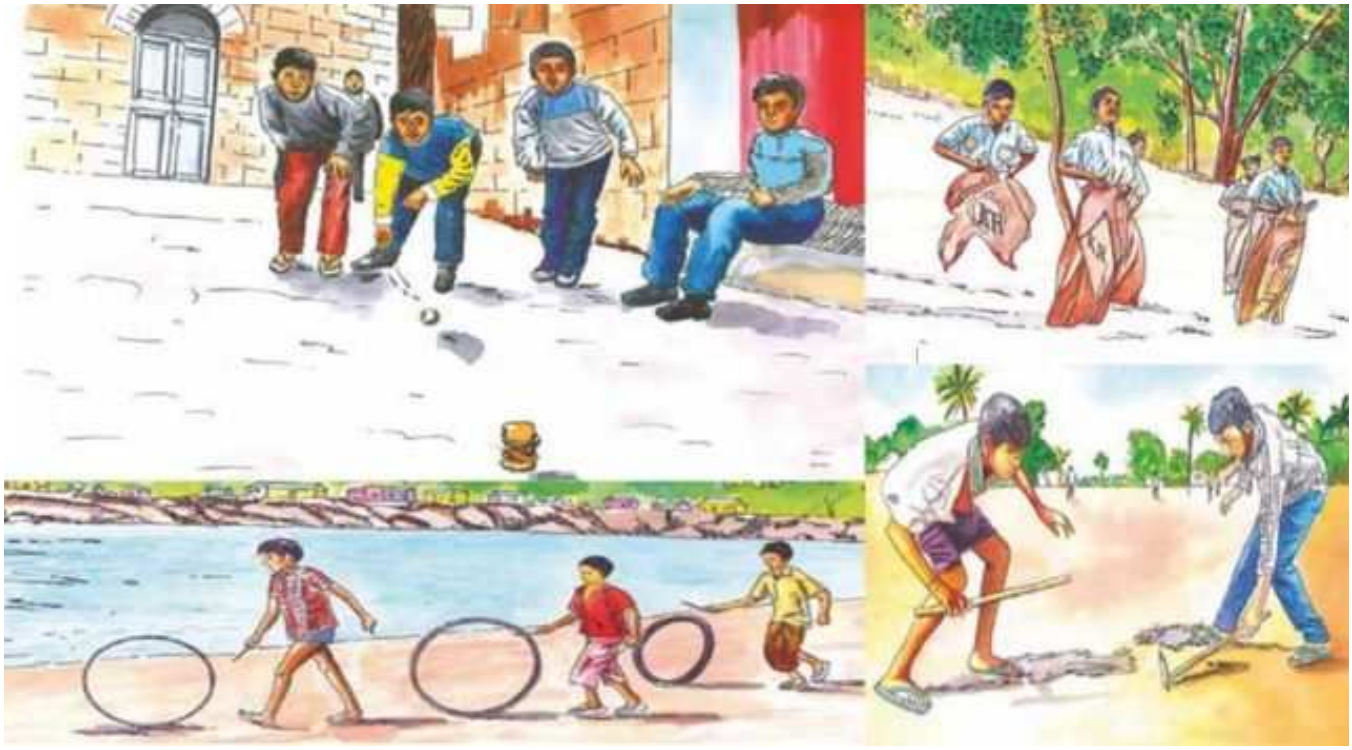

पारंपरिक खेल को खेला था। भारतीय उपमहाद्वीप के दक्षिणी हिस्सों में शुरू हुआ यह खेल 1990 के दशक में भारत और पाकिस्तान में एक लोकप्रिय आउटडोर खेल था, लेकिन अब शहरी लोगों के बीच इसकी लोकप्रियता कम हो गई है।

कुत्ता और हड्डी या रुमाल झपट्टा

रुमाल झपट्टा, जिसे कुत्ता और हड्डी का खेल भी कहा जाता है, एक लोकप्रिय आउटडोर टीम गेम है जिसकी उत्पत्ति राजस्थान के ग्रामीण भागों से हुई है। सालों से, रुमाल झपट्टा पूरे भारत के स्कूलों में खेला जाने वाला एक आम खेल रहा है। इस सरल खेल के लिए सिर्फ एक रूमाल की जरूरत होती है। हालाँकि, इस चीज की जगह कोई भी ऐसी चीज ली जा सकती है जो आकार में छोटी हो और जिसे उठाकर जल्दी से चलाया जा सके।

खो–खो

माना जाता है कि खो–खो की प्रेरणा महाभारत के हिंदू पवित्र ग्रंथ से मिली है। किंवदंती है कि महाभारत के युद्ध में अभिमन्यु द्वारा रक्षात्मक घेरे से लड़ने के लिए इस्तेमाल की गई रणनीति को अक्सर खो–खो के खेल में इस्तेमाल किया जाता है। इसे प्राचीन काल में रथों का उपयोग करके भी खेला जाता था और इसे राठेरा के नाम से जाना जाता था। खो खो के आधुनिक रूप का आविष्कार 1914 में पुणे के डेक्कन जिमखाना क्लब द्वारा किया गया था, जिसने खेल के लिए औपचारिक नियम और संरचना प्रदान की। इसे 1936 के बर्लिन ओलंपिक में अन्य पारंपरिक भारतीय खेलों के साथ प्रदर्शित किया गया था। आज, खो खो दक्षिण एशियाई खेलों में एक पदक खेल है, जिसे 2016 के संस्करण में खेला गया था।

हॉपस्कॉच या स्टापू, किटकिट : एक सदियों पुराना खेल

स्टापू भारतीय उपमहाद्वीप में एक लोकप्रिय खेल है, जिसका आनंद मुख्य रूप से छोटी और किशोर लड़कियाँ उठाती हैं। यह सदियों पुराना खेल है जिसकी उत्पत्ति प्राचीन रोम से हुई है। ऐसा माना जाता है कि इसका आविष्कार रोमन सैनिकों को प्रशिक्षित करने के लिए किया गया था। हॉपस्कॉच के लिए इस्तेमाल किए जाने वाले कोर्ट बहुत बड़े होते थे, कभी–कभी 100 फीट से भी ज्यादा लंबे होते थे, और रोमन फुट–सोल्जर्स को पूरे कवच में दौड़ते समय अपने पैरों को बेहतर बनाने में मदद करते थे। रोमन बच्चों ने इससे प्रेरणा ली और स्कोरिंग सिस्टम के साथ इसका छोटा संस्करण खेला। भारत में हॉपस्कॉच को अलग–अलग क्षेत्रों में अलग–अलग नामों से जाना जाता है। हिंदी भाषी क्षेत्रों में इसे किटकिट, स्टापू और लंगड़ी के नाम से जाना जाता है। बंगाल में इसे एकात–दुहाट

वो भी क्या दिन थे

या इक्का–दुक्का कहते हैं, जबकि महाराष्ट्र में बच्चे इसे लंगड़ी–पानी के नाम से पसंद करते हैं। दक्षिण भारत में इसे कर्नाटक में कुंटे–बिल्ले, तमिलनाडु में पांडी और आंध्र प्रदेश और तेलंगाना में तोकुडु के नाम से जाना जाता है।

गिल्ली डंडा

गिल्ली–डंडा एक शौकिया खेल है जो बांग्लादेश, भारत, नेपाल, पाकिस्तान और यहाँ तक कि कंबोडिया और इटली के कुछ हिस्सों में ग्रामीण इलाकों और छोटे शहरों में व्यापक रूप से खेला जाता है। इस खेल में दो छड़ियाँ शामिल होती हैं, एक बड़ी छड़ जिसे डंडा कहते हैं, उससे एक छोटी छड़ को मारा जाता है, जिसे गिल्ली कहते हैं। यह प्राचीन भारतीय खेल संभवतः 2500 साल से भी पुराना है और माना जाता है कि इसने क्रिकेट, बेसबॉल और सॉफ्टबॉल जैसे पश्चिमी खेलों को प्रभावित किया है। एक शौकिया युवा खेल के रूप में, गिल्ली–डंडा में कई क्षेत्रीय विविधताएँ हैं। कुछ संस्करणों में, स्ट्राइकर का स्कोर इस बात पर निर्भर करता है कि गिल्ली स्ट्राइकिंग पॉइंट से कितनी दूर गिरती है, जिसे डंडे या गिल्ली की लंबाई के हिसाब से मापा जाता है।

कबड्डी

कबड्डी, एक ऐसा खेल जिसकी जड़ें जल्लीकट्टू पर केन्द्रित हैं, और जो प्राचीन तमिलनाडु के मुल्लई क्षेत्र में रहने वाले अयार आदिवासी लोगों के बीच एक समय आम था। इस खेल में, विरोधी के खिलाफ खेलने वाले खिलाड़ी के साथ बैल जैसा व्यवहार किया जाता है, जो शारीरिक संपर्क के बिना बैल को काबू में करने जैसा है। तमिलनाडु में 4,000 साल से भी ज्यादा पुराने समृद्ध इतिहास वाली कबड्डी की उत्पत्ति हुई है। भारत ने कबड्डी को एक प्रतिस्पर्धी खेल के रूप में लोकप्रिय बनाने में अहम भूमिका निभाई है, 1920 के दशक में कबड्डी की प्रतियोगिताओं का आयोजन किया गया और 1938 में इसे भारतीय ओलंपिक खेलों में शामिल किया गया।

भारत के हर कोने में पारंपरिक खेलों की भरमार है, जिनमें से प्रत्येक का अपना अनूठा नाम और विविधता है। विशेष रूप से, हमारे पास मार्बल्स हैं, जिन्हें मरम पिट्टी के नाम से भी जाना जाता है, जहाँ खिलाड़ी कुशलता से गेंद फेंककर एक–दूसरे को खत्म करने की कोशिश करते हैं। मार्बल्स से जुड़े भारतीय खेलों को कांचा/कांचे या गोली गुंडू के नाम से जाना जाता है, जिसमें खिलाड़ी अधिक से अधिक मार्बल्स को पकड़ने और विजयी होने के लिए उन्हें उछालते हैं। इसके अतिरिक्त, हमारे पास लॉक एंड की का खेल भी है, जिसे विश–अमृत भी कहा जाता है, जो पश्चिमी फ्रीज टैग जैसा है, जहाँ खिलाड़ी विरोधियों को टैग करके फ्रीज कर देते हैं, और उनके साथी उन्हें टैग करके अनफ्रीज कर सकते हैं।

इन खेलों का आकर्षण उनकी सादगी और उनके द्वारा लाए जाने वाले आनंद में निहित है, जो उन्हें हमारी विविध सांस्कृतिक विरासत का अभिन्न अंग बनाता है। जब हम इन पारंपरिक भारतीय खेलों को फिर से खोजते हैं, तो हम न केवल अपने अतीत को संरक्षित कर रहे हैं, बल्कि यह भी सुनिश्चित कर रहे हैं कि आने वाली पीढ़ियाँ उसी उत्साह और सौहार्द की भावना को अपना सकें जो कभी हमारे अपने बचपन में थी।

(साभार: homegrown.co.in)

अब खत्म हो गया चिक्का, बजनी और कुद्दी का जलवा

बिहार में नागपंचमी (पचइयां) पर अब वो बात कहां, जब परंपरागत खेल जीवन में रंग घोलते थे। मैदान की बात छोड़िए, खेतों में ही चिक्का की धमाचौकड़ी मच जाती थी। इन खेलों में खिलाड़ी ही नहीं, आम लोग भी भागीदार होते थे। खेलते–खेलते शरीर कींचड़ से लथपथ हो जाते थे। कौन जीता–कौन हारा, यह सवाल गौण होता, बस अहमियत इस बात की होती कि चिक्का, कबड्डी, कुद्दी व बजनी का जलवा बीते साल से भी ज्यादा सरस हो। 25–30 साल पहले खेतवाही कर रहे बुजुर्ग भी बच्चों व युवाओं का परंपरागत खेल देखते–देखते कभी इस कदर उत्साह से लबरेज हो जाते थे कि धोती का पछुआ कसते और कमर में गमछा का फेंटा बांध मैदान में उतर जाते थे। परंपरागत खेलों का अभ्यास मैच भी उस दौर में गजब का होता था। कभी पुरनका–जवनका के बीच तो कभी गोरका–करियवा के बीच।

कबड्डी व चिक्का के लिए आज की तरह चूने की लाइनिंग की दरकार नहीं पड़ती थी। लाठी के हुर्रे से फटाफट लकीर खींची और पसीना बहाने लगते। अभ्यास का फाइनल मुकाबला नागपंचमी को होता था। इस दिन के परंपरागत खेलों के विजेता की पूरे साल गांव में तूती बोलती थी। खास तौर से कुद्दी और बजनी के चैंपियन की। गांव स्तर पर पगड़ी बांधकर सम्मानित किया जाता था। इसके साथ ही दौड़ प्रतियोगिताएं भी होती थीं। ऊंची कूद में भी प्रतिभागी दांव आजमाते थे। परंपरागत खेलों के समापन पर जयघोष होती थी। जीतने वाले को महेर का इनाम मिलता था। यह पकवान (महेर) खिचड़ी जैसी होती, जो मट्ठा दही, हल्दी, चावल और दाल से बनाई जाती थी। खेलने से आई थकान के लिए यह व्यंजन औषधि के समान माना जाता था। (साभार: www.livehindustan.com)

लुप्त होती कलाएं

फैशन के बाजार में गुम होतीं कठपुतलियां

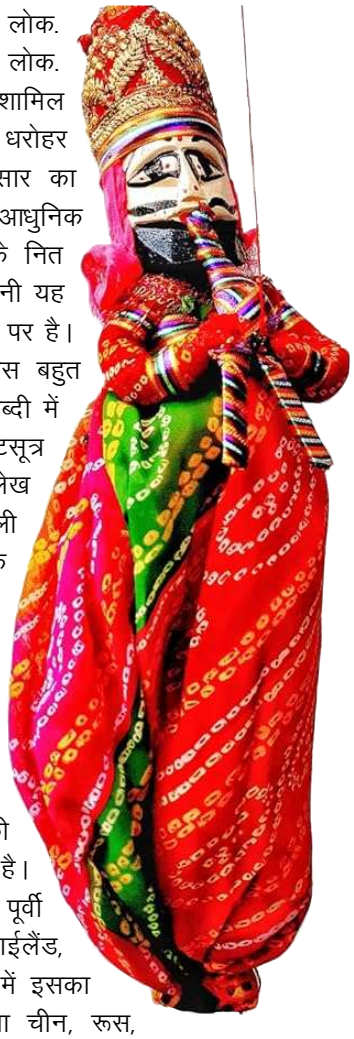

भारतीय संस्कृति का प्रतिबिंब लोक. कलाओं में झलकता है। इन्ही लोक. कलाओं में कठपुतली कला भी शामिल है। यह देश की सांस्कृतिक धरोहर होने के साथ–साथ प्रचार–प्रसार का सशक्त माध्यम भी है, लेकिन आधुनिक सभ्यता के चलते मनोरंजन के नित नए साधन आने से सदियों पुरानी यह कला अब लुप्त होने की कगार पर है।

कठपुतली का इतिहास बहुत पुराना है। ईसा पूर्व चौथी शताब्दी में पाणिनी की अष्टाध्यायी में नटसूत्र में पुतला नाटक का उल्लेख मिलता है। कुछ लोग कठपुतली के जन्म को लेकर पौराणिक आख्यान का जिक्र करते हैं कि शिवजी ने काठ की मूर्ति में प्रवेश कर पार्वती का मन बहलाकर इस कला की शुरुआत की थी। कहानी 'सिंहासन बत्तीसी' में भी विक्रमादित्य के सिंहासन की बत्तीस पुतलियों का उल्लेख है। सतवदर्धन काल में भारत से पूर्वी एशिया के देशों इंडोनेशिया, थाईलैंड, म्यांमार, जावा, श्रीलंका आदि में इसका विस्तार हुआ। आज यह कला चीन, रूस, रुमानिया, इंग्लैंड, चेकोस्लोवाकिया, अमेरिका व जापान आदि अनेक देशों में पहुंच चुकी है। इन देशों में इस विधा का सम–सामयिक प्रयोग कर इसे बहुआयामी रूप प्रदान किया गया है। वहां कठपुतली का मनोरंजन के अलावा शिक्षा, विज्ञापन आदि अनेक क्षेत्रों में इस्तेमाल किया जा रहा है।

भारत में पारंपरिक पुतली नाटकों की कथावस्तु में पौराणिक साहित्य, लोककथाएं और किवदंतियों की महत्वपूर्ण भूमिका रही है। पहले अमर सिंह राठौड़, पृथ्वीराज, हीर रांझा, लैला–मजनूं और शीरी–फरहाद की कथाएं ही कठपुतली खेल में दिखाई जाती थी, लेकिन अब समसामयिक विषयों, महिला शिक्षा, प्रौढ़ शिक्षा, परिवार नियोजन के साथ–साथ हास्य–व्यंग्य, ज्ञानवर्द्धक व अन्य मनोरंजक कार्यक्रम दिखाए जाने लगे हैं। रीति–रिवाजों पर आधारित कठपुतली के प्रदर्शन में भी काफी बदलाव आ गया है। अब यह खेल सड़कों, गली–कूचों में न होकर फ्लड लाइट्स की चकाचौंध में बड़े बड़े मंचों पर होने लगा है। छोटे–छोटे लकड़ी के टुकड़ों, रंग–बिरंगे कपड़ों पर गोटे और बारीक काम से बनी कठपुतलियां हर किसी को मुग्ध कर लेती है। कठपुतली के खेल हर प्रांत के मुताबिक भाषा, पहनावा व क्षेत्र की संपूर्ण लोक संस्कृति को अपने में समेटे रहते हैं। राजा–रजवाड़ों के संरक्षण में फली–फूली इस लोककला का अंग्रेजी शासनकाल में विकास रुक गया। चूंकि इस कला को जीवित रखने वाले कलाकार नट, भाट, जोगी समाज के दलित वर्ग के थे, इसलिए समाज का तथाकथित उच्च कुलीन वर्ग इसे हेय दृष्टि से देखता था।

महाराष्ट्र को कठपुतली की जन्मभूमि माना जाता है। लेकिन सिनेमा के आगमन के साथ वहां भी इस पारंपरिक लोक. कला को क्षति पहुंची। बच्चे भी अब कठपुतली का तमाशा देखने की बजाय ड्राइंग रूम में बैठकर टीवी देखना ज्यादा पसंद करते हैं। कठपुतली को अपने इशारों पर नचाकर लोगों का मनोरंजन करने वाले कलाकर इस कला के कद्रदानों की घटती संख्या के कारण अपना पुश्तैनी धंधा छोड़ने पर मजबूर हैं। अनके परिवार अब खेल न दिखाकर सिर्फ कठपुतली बनाकर ही गुजर–बसर कर रहे हैं। देश में इस कला के चाहने वालों की तादाद लगातार घट रही है, हालांकि विदेषी इसे पसंद करते हैं। (साभार: www.bharatvarta.in)

लुप्त होती कलाएं

रंग खो रही है कोहबर कला

कोहबर बिहार, झारखंड और उत्तर प्रदेश में भित्ति चित्र परंपरा का प्राचीनतम उदाहरण है, जो वैवाहिक उत्सव में बनायी जाने वाली लोक कला एवं सांस्कृतिक परंपरा का उदाहरण है। विवाह को गृहस्थ जीवन का प्रारंभिक बिंदु माना गया है जो सामाजिक, सांस्कृतिक, धार्मिक क्रियाकलापों का आधार भी है। शादी में दो महत्वपूर्ण अंग होते हैं–वेदाचार और लोकाचार। कोहबर लोकाचार परंपरा के तहत आता है जिसमें औरतों का महत्वपूर्ण योगदान होता है। कोहबर का शाब्दिक अर्थ होता है वर का निवास स्थान। कोह यानी गुफा या कमरा और वर का अर्थ है दूल्हा। अर्थात्, वह स्थान या कमरा जहां दूल्हा–दुल्हन रहते हैं, कोहबर कहलाता है। इस शब्द को संस्कृत भाषा के शब्द 'कोष्ठवर' का अपभ्रंष भी माना गया है, और इसका भी वही अर्थ है। बिहार में मुख्य रूप से यह मिथिलांचल में प्रचलित और लोकप्रिय है। हालांकि अब इसका पारंपरिक रूप धीरे–धीरे खत्म होता जा रहा है और केवल रस्मनिभाई के लिए कागज पर चित्र बना लिया जाता है।

कोहबर कला महिला प्रधान चित्रकला है। इस चित्रकला में ज्यादातर महिलाएं ही निपुण होती हैं। तीज त्योहार एवं विशेष अवसरों पर अरिपन, पुरहर और कोहबर लिखने के लिए प्रत्येक घर में कोई न कोई दक्ष महिला अवश्य होती है। अपनी कल्पना के माध्यम से महिलाएं जो चित्र बनाती हैं उन चित्रों का सांकेतिक अर्थ होता है। इन चित्रों में हाथी, शेर, तोता, साँप, मछलियाँ, मोर, बाँस, फूल, हल, ओखल–मूसल, शिव–पार्वती, विष्णु–लक्ष्मी, कुल देवता, अष्टदल कमल, मंडला यंत्र, तथा स्त्री–पुरूष, नैना जौगिन आदि होते हैं।

विवाह के अवसर पर, घर के किसी एक कमरे में पूर्व दिशा की दीवार पर गोबर से लीप कर, पिसी हल्दी और पिसे चावल के घोल से चित्रकारी करके इस घर को सजाया जाता है। मान्यता है कि इस घर में देवता पितरों का आशीर्वाद वर वधु को प्राप्त होता है। विवाह की शुरुआत से लेकर समाप्ति तक के सभी रीति रिवाज इसी घर में सम्पन्न किये जाते हैं। एक प्रकार से नव वर–वधु के जीवन के शुभारम्भ का साक्षी बनता है यह कोहबर घर। कोहबर के चारों कोनों पर नैना जोगिन का चित्र भी चित्रित किया

लुप्त होती कलाएं

जाता है। माना जाता है कि नैना जोगिन का चित्रण बौद्ध धर्म के प्रभाव से गृहस्थ को दूर रखने के लिए किया जाता था।

लोककथनानुसार कोहबर की शुरुआत राजा श्री राम और जानकी के विवाह के समय से हुई थी। उस समय राजा जनक ने सीता के स्वयंवर के अवसर पर अपनी प्रजा से नगर को सजाने एवं बारातियों के स्वागत में अपने अपने घरों की दीवारों पर भित्तिचित्र बनाने का आग्रह किया। उसी समय से लोक परम्परा में इस चित्रकला को विवाह की लोक रीति का अनिवार्य हिस्सा बना दिया गया, लेकिन एक बड़ी विचित्र बात है कि जिस सीता के विवाह से कोहबर लिखने की परम्परा की शुरूआत हुई उसी कोहबर के चित्रों में अन्य देवी देवता उकेरने के साथ तोता–मैना, खल–मूसल, शिव पार्वती आदि के चित्र तो बनते है लेकिन सीता राम का चित्र नहीं बनाया जाता क्योंकि मैथिल लोक समाज में अवध में ब्याही सीता के वैवाहिक जीवन को बहुत सुखद नहीं माना जाता। इसलिए कोहबर में सीता राम की युगल जोड़ी को छोड़कर अन्य देवी देवताओं के चित्र अंकित किये जाने की परम्परा है। यही कला आगे चलकर मधुबनी चित्रकला (मिथिला पेंटिंग) के नाम से प्रचलित हुई।

कोहबर में जो चित्र बनते हैं उनका सम्बन्ध वर–वधु से होता है। इसमें उन वस्तुओं का अंकन होता हैं जिससे दंपत्ति के बीच निकटता स्थापित करके प्रजनन, उर्वरता और वंशवृध्दि को बढ़ावा मिले। कह सकते हैं कि वर वधु को अप्रत्यक्ष रूप से यौन शिक्षा देने के उद्देश्य से कोहबर में अनेक सांकेतिक चित्र उकेरे जाते हैं। नव विवाहित को कोहबर के माध्यम से शिक्षित करने की यह अद्‌भुत लोक परम्परा प्राचीन युग से चली आ रही है।

कोहबर बास्तविक रुप से भित्तिचित्र और शिला चित्र परम्परा का रूप है। शोध में प्रमाणित हुआ है कि इस आदिवासी कला का इतिहास 5000 वर्षों से अधिक पुराना है। इसकी शुरूआत का काल 7,000–4,000 ईसा पूर्व के बीच आंका गया हैं। हालांकि मिर्जापुर में यह पाषाण युग से और हजारीबाग (झारखंड) में यह शैली कांस्ययुगीन पाई गई है। (माहुड़ी) सतपहाड़ श्रृंखला, दामा. `दर पर्वत श्रृंखला में जो सति–महादेव भित्तिचित्र मिला है, वही चित्र श्रृंखला पारंपरिक रूप में गोधन, सोहराई और कोहबर के रूप मे विद्यमान है। झारखंड को कोहबर कला के लिए जीआई टैग भी मिल चुका है।

कोहबर चित्र बनाने की कोई विशेष चित्रात्मक शैली नहीं है, बल्कि यह लोक परम्परा पर आधारित वैवाहिक अनुष्ठान है, जो कि मूलतः क्षेत्रीय विशेषता और रीति–रिवाज़ है, और जो आदिवासी या लोक परंपरा मानी जाती है। इसकी विशेषता कांस्ययुगीन मंडल चित्रों के अनुरूप है जिसमें ज्यामीतीय आकार लता, पुष्प, पौधे, बड़े जानवर, पक्षियों, कीड़े–मकोड़े, हल, ओखल–मूसल आदि घरेलू वस्तुओं के अलावा हाथ और पैरों के छाप, देवी–देवता और कुल देवता आदि का युगल चित्रांकन होता हैं। वस्तुतः यह प्रक्रिया वर–वधू की पहली रात वाले निवास स्थान पर बनाई जाने वाली चित्र प्रक्रिया है जिसके माध्यम से घर की औरतें वर–वधू को नए जीवन में प्रवेष करने के लिए तैयार करती हैं। इसमें चित्रों के माध्यम से उन्हें आने वाली जिम्मेदारियों से अवगत कराया जाता है और साथ ही बड़े–बुजुर्गों तथा देवता–पितरों के आषीर्वाद को भी दर्षाया जाता है।

झारखंड के अनेक जिलों में कोहबर एवं सोहराई की समृद्ध परम्परा रही है। संभवतः आज की कोहबर कला झारखंड में पायी जाने वाले सदियों पुराने गुफाचित्रों का ही आधुनिक रूप है। हजारीबाग की कोहबर चित्रकला के चितेरे मुख्यतः आदिवासी हैं।

कोहबर चित्र बनाने की दो शैलियाँ प्रचलित हैं। मिट्‌टी को दीवारों पर पृष्ठभूमि तैयार करने के लिये कानी मिट्‌टी (मैंगनीज) का लेप हाथ से या झाड़ू से किया जाता है। सूख जाने पर उसके उपर सफेद मिट्‌टी (कोऔलीन) का लेप चढ़ाया जाता है जिस पर गीली अवस्था में ही बांस/प्लास्टिक के कंघे से विभिन्न आकृतियाँ इस प्रकार बनाई जाती हैं कि उपर की सफेद मिट्‌टी हट जाती है और नीचे की काली मिट्‌टी में आकृतियां स्पष्ट हो जाती हैं। कहीं–कहीं कंघी की जगह चार उंगलियों का प्रयोग भी किया जाता है। दूसरी विधि में दीवारों पर मिट्‌टी की सतह तैयार कर कूचियों से आकृतियां बनाई बनायी जाती है या टिहनी के कोर पर कपड़ा बांध कर उससे चित्र अंकित किया जाता है। आकृतियों में सामान्यतः सफेद, गेरू, काला, पीला, हरा आदि रंग का प्रयोग होता है। हजारीबाग जिले के जोरकाठ, इस्को, शंरेया, सहैदा, ढेठरिगे, खराटी, राहम आदि गाँवों में कोहबर चित्रांकन सदियों से होता आ रहा है।

लुप्त होती कलाएं

दम तोड़ रहीं ये अदभुत कलाएं

प्रसिद्ध अमेरिकी ट्रैपिस्ट भिक्षु, लेखक, धर्मशास्त्री, रहस्यवादी, कवि, सामाजिक कार्यकर्ता और तुलनात्मक धर्म के विद्वान थॉमस मेर्टन ने सही कहा था कि "कला हमें खुद को खोजने और साथ ही खुद को खोने में सक्षम बनाती है"। भारत ने इस कहावत को बिल्कुल सही तरीके से चरितार्थ किया है! हमारे देश के लगभग हर हिस्से की अपनी एक कला है। चित्रकारी, नक्काशी, कढ़ाई, हस्तशिल्प, हथकरघा और भी बहुत कुछ। हालांकि समय के साथ ये कलाएं अपना वजूद खोती जा रही हैं।

रोगन पेंटिंग : क्या आप जानते हैं कि रोगन एक प्रकार की फैब्रिक पेंटिंग है जो कच्छ, गुजरात में उबली हुई सब्जियों से की जाती है? एक समय में, इस पारंपरिक कला का अभ्यास पूरे क्षेत्र में किया जाता था, लेकिन हाल के दिनों में यह कला लगभग विलुप्त हो गई है। इस क्षेत्र में सिर्फ एक परिवार है जो अभी भी इस कला को जारी रखने और जीवित रखने की कोशिश कर रहा है!

मंजूषा चित्रकला : भागलपुर की एक भारतीय पारंपरिक कला मंजूषा का भी यही हश्र हुआ है। स्थानीय लोग 7वीं शताब्दी से इसका अभ्यास कर रहे हैं, लेकिन अब परिदृश्य पूरी तरह बदल गया है और कारीगर इस कला को जीवित रखने के लिए संघर्ष कर रहे हैं।

मीनाकारी : मीनाकारी राजस्थान में जन्मी एक पारंपरिक भारतीय कला है। इस कला में धातु की सतह पर रत्न जड़े जाते थे। इसमें इस्तेमाल किए गए रत्नों को चांदी या सोने से जड़ा जाता था। मीनाकारी मुगलों और राजस्थानी राजघरानों के बीच बहुत लोकप्रिय थी। भव्य और ऐतिहासिक होने के बावजूद, हाल के दिनों में ये खूबसूरती बरकरार नहीं रह सकी।

रॉक पेंटिंग : हममें से बहुत से लोग इस तथ्य से अनजान हैं कि भारत में प्राचीन शैल कला का तीसरा सबसे बड़ा संग्रह है। 40,000 ईसा पूर्व की शैल चित्रकारी अरावली पर्वतमाला और महाराष्ट्र के कुछ हिस्सों में पाई गई थी।

तंजौर चित्रकला : तमिलनाडु की तंजौर या तंजावुर पेंटिंग एक और कला का रूप है जो अपने अंतिम चरण में है। ये खूबसूरत पैनल पेंटिंग हैं और लकड़ी के तख्तों पर बनाई जाती हैं।

लुप्त होती कलाएं

पैतकर चित्रकला : पैतकर पेंटिंग भारत की सबसे पुरानी आदिवासी पेंटिंग है। पेंटिंग का यह रूप झारखंड से आया है और इसे ओडिशा और पश्चिम बंगाल के सीमावर्ती इलाकों में भी देखा जा सकता है। एक समय में पैतकर पेंटिंग बहुत लोकप्रिय थी, लेकिन अब लोग इसके अस्तित्व के बारे में बहुत कम जानते हैं।

पट्टचित्र : ओडिशा राज्य में जन्मी पट्टचित्र चित्रकला का इतिहास कृष्ण और जगन्नाथ के समय से जुड़ा हुआ है। इनका उपयोग पौराणिक कहानियों को दर्शाने के लिए किया जाता है। पेंटिंग चाक और इमली के मिश्रण का उपयोग करके कपड़े पर बनाई जाती है। पट्टचित्र पेंटिंग कृष्ण के जीवन के विभिन्न प्रसंगों को दर्शाती समयरेखा जैसी तस्वीरें हैं। सोने और चांदी की सजावट का उपयोग भी आम था।

लुप्त हो रही भारतीय कला की इस सूची में महाराष्ट्र की वारली, पश्चिम बंगाल की संथाल चित्रकला, इत्यादि भी शामिल हैं। पारंपरिक भारतीय कला रूपों के विलुप्त होने के लिए औद्योगीकरण और आधुनिकीकरण को दोषी ठहराया जा सकता है। आजकल लोगों के पास दुनिया भर की हर चीज आसानी से उपलब्ध है। जिसके कारण पारंपरिक भारतीय कला और उसके स्वरूपों को नजरअंदाज किया जा रहा है। सच तो यह है कि हममें से ज्यादातर लोग भारत में मौजूद कई कला रूपों के बारे में जानते ही नहीं हैं! हस्तनिर्मित उत्पादों के उत्पादन में लगने वाली लागत मशीन से काटे गए उत्पादों में लगने वाली लागत से ज्यादा होती है। यह अंतर स्पष्ट कारणों से है। हस्तनिर्मित उत्पादों के लिए विशिष्ट और कुशल श्रमिकों की आवश्यकता होती है, जो उन्हें अद्वितीय बनाता है। जबकि, मशीन से काटे गए उत्पादों के लिए ऐसी कोई आवश्यकता नहीं होती है और उन्हें थोक में बनाया जा सकता है, जिससे वे आसानी से उपलब्ध हो जाते हैं। अंततः हस्तनिर्मित उत्पादों की मांग में कमी आती है। मशीन से काटे गए, बड़े पैमाने पर उत्पादित उत्पादों की बढ़ती मांग न केवल पारंपरिक कला रूपों को प्रभावित कर रही है, बल्कि इसके मास्टर कौशल और संरक्षकों को भी प्रभावित कर रही है! कारीगर, कलाकार, डिजाइनर हमारी मातृभूमि की विरासत को बचाने के लिए कड़ी मेहनत कर रहे हैं।

तमाशों और नौटंकियों का दौर खत्म

यह बीते समय की बात लगती है, जब मनोरंजन के ज्यादा साधन नहीं थे और लोग मनोरंजन के लिए स्थानीय कलाओं पर निर्भर रहते थे। मेला, सर्कस या कोई नुक्कड़ नाटक देखने के लिए लोगों की भीड़ जमा हो जाती थी। लेकिन आज ये सारे कलाकार बिना दर्शकों के अधूरा महसूस करते हैं। हमारा देश सैकड़ों परफॉर्मिंग आर्ट्स और शिल्पकलाओं का घर है। यही कलाएं हर राज्य की अपनी पहचान हैं। पुराने समय में ये कलाएं मनोरंजन का साधन होने के साथ–साथ, आम लोगों को प्राचीन धार्मिक शास्त्रों और लोक कथाओं से जोड़ने का काम करती थीं, जिसमें अक्सर एक नैतिक संदेश होता था। लेकिन आज, लोगों की रुचि बदल गई है। शहरों के साथ गावों में भी लोग इन्हें भूलते जा रहे हैं। वे कलाकार जो सालों से अपने परिवार की धरोहर संभाल रहे थे, आज किसी दूसरे व्यवसाय से जुड़ने पर मजबूर हैं। कुछ ऐसी ही कलाओं के बारे में जानते हैं जो पहले काफी लोकप्रिय होती थीं।

महाराष्ट्र का तमाशा

तमाशा एक संगीतमय लोक नाटक है, जिसमें संगीत, अभिनय और नृत्य शामिल होता है। तमाशा प्रस्तुत करने के दो मुख्य लोकप्रिय तरीके हैं– एक ढोलकी भरी और दूसरा संगीत भरी। यह लोककला ग्रामीण महाराष्ट्र से सदियों जुड़ी हुई है। यह कहना काफी मुश्किल है कि तमाशा का मंचन पहली बार कब हुआ था, लेकिन महाराष्ट्र के लोक नाट्य के रूप में इसे देश भर में पहचान मिली है। तमाशा शब्द भी ग्रामीण महाराष्ट्र से ही आया था। ऐसा भी कहा जाता है कि गांव में शाम के वक्त अक्सर लोग घेरा बनाकर बैठते थे और तमाशा कलाकार प्रस्तुति देते थे। हर एक तमाशा, एक फिल्म के समान दिखाया जाता था, जिसमें लावणी जरूर शामिल होती थी। 18वीं सदी में यह धीरे–धीरे शहरों में भी लोकप्रिय हो गया था।

प्राचीन थियेटर

जात्रा पाला (यात्रा) – बंगाल

18वीं शताब्दी में कलकत्ता में एक लोकप्रिय संस्कृतिक कार्यक्रम गांवों और शहरों में पेश किया जाता था, जिसे 'जात्रा पाला' के नाम से जाना जाता था। जात्रा को बंगाल के मुख्य त्योहारों में परफॉर्म किया जाता था, जिसमें गीत और नृत्य की जुगलबंदी होती थी। इसके लिए स्पेशल गीत भी बनाए जाते थे। इसकी सबसे अच्छी बात यह होती थी कि इसे बनाने में हिंदू महाकाव्यों और पौराणिक कथाओं से प्रेरणा ली जाती थी और नाटक में अलग–अलग पात्रों के बीच वार्तालाप दिखाया जाता था। जात्राओं को गोल या चौकोर समतल मैदानों में किया जाता था, जिसमें दर्शकों को मैदान के चारों ओर एक घेरे में बैठाया जाता था। 20वीं शताब्दी तक, इन जात्राओं ने बंगालियों के बीच देशभक्ति की भावना को बढ़ाने में बड़ी अच्छी और अहम भूमिका निभाई थी।

बहरूपिया कला

बहरूपिया एक पारंपरिक प्रदर्शन कला है, जो कभी भारत के कई हिस्सों में प्रस्तुत की जाती था। बहरुपिया कलाकार अलग–अलग पौराणिक किरदार या किसी जानवर का रूप धारण करके मेले या सांस्कृतिक उत्सवों में नाटकीय रूप से आते थे, जिसे देखकर बड़े और बच्चे सभी चौंक जाया करते थे। रामलीला और नुक्कड़ नाटकों में भी बहरुपिये देखने को मिलते थे। सालों पहले इन्हें समाज में एक कलाकार का दर्जा दिया जाता था लेकिन समय के साथ ये उत्सव कम होने लगे और ये कलाकार अपना गुजारा चलाने के लिए गली–मोहल्ले में अपनी कला दिखाने का काम करने लगे। अब तो ये बहरुपिये कहीं नजर भी नहीं आते।

नौटंकी– उत्तर प्रदेश

नौटंकी भी रंगमंच का ही एक रूप है, जो गीतों, नृत्यों, कहानियों, मजाकिया संवादों, हास्य और मेलोड्रामा के साथ बनते थे। इसकी शुरुआत 19वीं शताब्दी के अंत में उत्तर प्रदेश में हुई थी। ये नाटक गांव में ज्यादा प्रचलित हुए थे, शुरुआत में इसमें भी धार्मिक और पौराणिक कहानियों को दर्शाया जाता था। फिर धीरे–धीरे इसके जरिए सामाजिक और नैतिक कुरीतियों को भी दर्शाया जाने लगा। नुक्कड़ में नौटंकी कलाकार भाग लेते थे। समय के साथ नुक्कड़ नाटकों को स्कूल–कॉलेजों में भी प्रस्तुत किया जाने लगा। लेकिन आजकल नुक्कड़ नाटक कम ही देखने को मिल रहे हैं।

भवई नाटक– गुजरात

गुजरात में भवई का 700 साल से भी पुराना इतिहास है। भवई शब्द दो शब्दों से मिलकर बना है– पहला 'भाव' जिसका अर्थ है भावना और दूसरा 'वई' जिसका अर्थ है वाहक। भवई का मूल उद्देश्य जन जागरूकता और मनोरंजन था। भवई में सरल कहानी को हास्य अभिनय के साथ सुनाया जाता था। इस कला की भाषा मुख्य रूप से गुजराती लोक बोली रही है, लेकिन उस पर उर्दू, हिन्दी और मारवाड़ी का प्रभाव भी रहा है। भवई की परंपरा को विकसित करने में पुरुषों का ही योगदान प्रमुख रहा है। मंचन में भी पुरूष ही हिस्सा लेते हैं, जो स्त्री पात्रों की भूमिका भी निभाते हैं। इन पुरूष कलाकारों के लिए भवई, आजीविका का जरिया भी था। लेकिन आज भवई कला विलुप्त होने से इन कलाकारों का रोजगार भी खत्म होने की कगार पर है।

आधुनिक साधन, फिल्म और ऑनलाइन मनोरंजन के इस दौर में हम इन परफॉर्मिंग आर्ट्स को याद भी नहीं करते। लेकिन सही मायनों में ये कलाएं सिर्फ मनोरंजन नहीं थीं, बल्कि हमारे संस्कृति का हिस्सा भी थीं। कहीं ऐसा न हो इनसे दूर जाकर हम अपनी संस्कृति से भी दूर हो जाएं।

(साभार: hindi.thebetterindia.com)

लोक नृत्य

भारत का नाम आते ही सामने आ जाता है विविधताओं से भरा देश। जिस धरती पर विभिन्न संस्कृति एवं परंपराओं का मेल होता है वही भारत है। भारत की संस्कृति जितनी रोचक है, उतनी दुनिया के किसी देश की नहीं है। यहां की संस्कृति दुनिया की तमाम संस्कृतियों में सबसे ज्यादा उन्नत है। विविधताओं से भरे देश का हर रंग निराला है। इस देश की हर प्रांत की अपनी विशेषता है, अपनी संस्कृति है, जो उस प्रांत की लोक कथाओं में नजर आती है। सभी प्रांतों के अपने लोक संगीत व लोक नृत्य होते हैं। इसमें वहां की परंपराओं और समुदायों की भावनाओं की अभिव्यक्ति देखने को मिलती है। यहां की संस्कृति, यहां के सभी धर्म, खान–पान, रहन–सहन, लेकिन जो सबसे ज्यादा अलग है, वो है भारत में मनाए जाने वाले त्योहार, उत्सव या पर्व और इन उत्सवों, त्योहारों पर किए जाने वाले लोक नृत्य जो भारत की संस्कृति को और अधिक रोचक बनाती हैं।

लोक नृत्य उन नृत्यों को कहते हैं जिनकी शुरुआत प्रायः उन्नीसवी शताब्दी या उसके पहले की हैं। इन नृत्यों का ढंग पारंपरिक होता है। इसके नृत्यकार सामान्यतः आम आदमी ही होते हैं तथा इन्हें किसी संस्था द्वारा संचालित नहीं किया जाता है। लोक नृतक स्वयं ही गाते है और उनके साथ वाद्य यंत्र बजाने वाले प्रशिक्षित होते हैं। प्रत्येक लोक नृत्य की पोशाक अलग होती है। ये पोशाकें बहुत रंग बिरंगी होती हैं और इनके साथ मेल खाते हुए परंपरागत गहने पहने जाते हैं।

इन लोक नृत्यों में ग्रामीण भारत की माटी की महक आती है और इसी महक से इन नृत्यों की सुंदरता और बढ़ जाती है। कोई भी त्योहार हो या खुशी का मौका जैसे विवाह, जन्म इत्यादि इन नृत्यों के बिना संपूर्ण नहीं होता। चाहे वह बंगाल का छऊ नृत्य हो या पंजाब का भांगड़ा अथवा असम का बिहू या आंध्र प्रदेश का गोनी। इन सभी में एक विशेष संस्कृति की परंपराओं की झलक दिखती है। यह लोक नृत्य देखने में जितना आसान लगता है करने में उतना ही कठिन होता है। यह नृत्य पीढ़ी दर पीढ़ी हस्तांतरित होती रहती है। इसके लिए लोक कलाकारों में जोश और शक्ति होनी चाहिए। कुछ लोक नृत्य केवल स्त्रियाँ करती हैं तो कुछ केवल पुरूष। कुछ दोनों मिलकर करते हैं, जैसे बंगाल का छऊ नृत्य केवल पुरूष करते हैं, राजस्थान का घूमर केवल महिलाएं

टूटतीं जड़ें

करती हैं, असम का बिहू दोनों मिलकर करते हैं। ज्यादातर मौकों पर लोक नृत्य की प्रस्तुति समूहों में होती है। भारत में अनेक प्रकार के लोक नृत्य है। जानते हैं इनमें से कुछ प्रसिद्ध लोक नृत्य के बारे में –

भांगड़ा : यह नृत्य शैली पंजाब की है और इसे केवल पुरूष ही करते हैं। सन 1880 के दशक के दौरान पंजाब के उत्तरी क्षेत्र में एक सामुदायिक नृत्य होता था जिसे भांगड़ा नृत्य कहा जाता है। भांगड़ा एक मौसम आधारित नृत्य है जो अप्रैल के महीने में शुरू होकर बैसाखी तक चलता है। इस महीने में फसलें विशेषकर गेहूं की बुआई होती है। बैसाखी के दौरान स्थानीय मेला भी लगता है और इन दिनों नये फसल तथा बैसाखी के त्योहार के उपलक्ष्य में कई दिनों तक पुरूष इस नृत्य को करते हैं। 1947 में पंजाब क्षेत्र के विभाजन के बाद बैसाखी मेलों की परंपरा टूट गई और जिन क्षेत्रों में सामुदायिक नृत्य भांगड़ा होता था उनमें से ज्यादातर पाकिस्तान में चले गए। परंतु भारत के पंजाब प्रांत के पंजाबियों ने इस नृत्य को जीवित रखा।

बिहू : यह लोक नृत्य असम प्रांत का है और इसे बिहू के त्योहार के साथ जोड़ा जाता है। इस नृत्य को स्त्री और पुरूष मिलकर रंग बिरंगे असमिया पोशाक पहनकर करते हैं। बिहू, आसामी नए साल को कहते हैं जो मध्य अप्रैल में पड़ता है। यूं तो यह नृत्य असम में कब से हो रहा है यह कहना मुश्किल है, परंतु 1694 में इस नृत्य का आधिकारिक जिक्र मिलता है जब अहोम राजा रूद्र सिंह ने पहली बार बिहू नृत्य करने वालों को राघर के मैदानों में रोंगाली बिहू के अवसर पर नृत्य करने के लिए बुलाया था।

छऊ : यह एक लोक नृत्य है जो बंगाल, ओडिशा एवं झारखंड मे प्रचलित है। इसके तीन प्रकार हैं–सेरैकेल्लै छऊ, मयूरभंज छऊ और पुरुलिया छऊ। कुछ विद्वानों का मानना है कि छऊ शब्द संस्कृत शब्द छाया से लिया गया है जिसका अर्थ छाया या छवि है। ये भी माना जाता है कि छऊ शब्द छावनी से लिया गया है जिसका अर्थ सैन्य शिविर है।

चांगू : यह लोक नृत्य ओडिशा का आदिवासी नृत्य है। चांगू ओडिशा में बहुत लोकप्रिय है। भुईया, बाथुडी, खारिया, जूयांग, मेची एवं सुंदरगढ़ के कोंधा समुदाय, क्योंझर, मयूरभंज तथा कंधामल जिले के स्त्री पुरूष मिलकर इस नृत्य को करते हैं। स्त्रियाँ ज्यादातर लाल किनारे की सफेद साड़ी पहनती हैं और पुरूष वहां का रंग बिरंगा पारंपरिक पोशा। यह नृत्य खुले आसमान के नीचे चांद की रोशनी में किया जाता है। इस नृत्य से यहां के लोगों के सीधी साधी जीवन शैली की झलक मिलती है।

गरबा : यह गुजरात प्रांत का लोक नृत्य है। इसका नाम संस्कृत के शब्द गर्भ और दीप से आई है। गरबा को नवरात्र के साथ जोड़ा जाता है। बीच में एक मिटटी के कंदील में दीया जलाकर या देवी शक्ति की चित्र अथवा मूर्ति के चारों ओर पारंपरिक गरबा की जाती है। गरबा की कुछ मुद्राएं सूफी संस्कृति से मिलती जुलती हैं। परंपरा के अनुसार गरबा नवरात्र के नौ दिनों तक किया जाता है. गरबा नृत्य करने वालों की पारंपरिक पोशाक लाल, गुलाबी, पीला, नारंगी इत्यादि चमकीले रंगों की होती है।

घूमर : यह राजस्थान प्रांत का लोक नृत्य है। घूमर का विकास भील कबीले के लोगों द्वारा किया गया। उसके पश्चात राजस्थान के अन्य समुदायों ने इसे अपनाया। यह नाच ज्यादातर महिलाओं द्वारा घूँघट लगाकर और एक घुमेरदार पोशाक, जिसे घाघरा कहा जाता है, पहनकर किया जाता है जिसमें वे गोल–गोल घूमती हैं और महिलाएं तथा पुरूष एक साथ गाते हैं। इस लोक नृत्य को अपना नाम घूमना से मिला है। घूमना अर्थात राजस्थानी महिलाओं के साथ–साथ उनके द्वारा पहनी गई रंग बिरंगी घाघराओं का भी हवा में घूमना। नृत्य करने वाली इन महिलाओं का चेहरा दुपट्टे से ढ़का होता है और उनका घाघरा हवा में लहराता है, उनके कदम नपे होते हैं, शरीर का लचीलापन, बीच बीच में ताली बजाना कुल मिलाकर दृश्य देखने लायक होता है। ज्यादातर इस नृत्य के दौरान देवी सरस्वती की पूजा होती है।

लावणी : लावणी महाराष्ट्र राज्य की लोक नाट्य–शैली तमाशा का अभिन्न अंग है। इसे महाराष्ट्र के सबसे लोकप्रिय और प्रसिद्ध लोक नृत्य शैली के रूप में जाना जाता है। लावणी नृत्य की विषय–वस्तु कहीं से भी ली जा सकती है, लेकिन वीरता, प्रेम, भक्ति और दुःख जैसी भावनाओं को प्रदर्शित करने के लिए यह शैली उपयुक्त है। संगीत, कविता, नृत्य और नाट्य सभी मिलकर लावणी बनाते हैं। इनका सम्मिश्रण इतना बारीक होता है कि इनको अलग कर पाना लगभग असम्भव है। महाराष्ट्र में विभिन्न प्रकार के लोक नृत्य किए जाते हैं, किंतु इन नृत्यों में लावणी नृत्य सबसे ज्यादा प्रसिद्ध लोक नृत्य है। लावणी शब्द लावण्य से बना है, जिसका अर्थ होता है– सुन्दरता।

यह तो एक झलक भर है। भारत के सभी प्रांतों में लोक नृत्यों का चलन है। एक प्रांत में कई तरह के लोक नृत्य होते हैं। ये लोग माटी से जुड़े होते हैं लेकिन इन्हें ग्रामीणों का नृत्य नहीं समझना चाहिए। भारत के ये लोक नृत्य विदेशों में भी नाम कमा रहे हैं, परंतु कहीं न कहीं भारत में इनकी जड़ें कमजोर होती जा रही हैं। जिस प्रांत का लोक नृत्य है उस प्रांत के बाहर इसकी पहचान नहीं होती है। हां, इसका एक अपवाद है भांगड़ा और गरबा। हम भारतीयों को ही इन लोक नृत्यों को भारत में जीवित रखना पड़ेगा ताकि लोक नृत्य भारतीय संस्कृति का अभिन्न अंग बना रहे।

(साभारः यूनियन सृजन पत्रिका)

कैसे चलेगा जीवन

—चाक चुप है, कुम्हार गुम है—

मिट्टी में मिलते जा रहे मिट्टी के बर्तन बनाने वाले

प्रियंका सौरभ

मिट्टी के बर्तन बनाने के अलावा इनके पास और कोई दूसरा रोजगार नहीं है, न ही कृषि करने के लिए इनके पास भूमि है, और न अन्य साधन, जिससे आय का आवक हो पाए। यह जैसे–तैसे करके अपने परिवार को पाल रहे हैं। मौजूदा दौर में एल्यूमीनियम, थर्मोकोल व प्लास्टिक बर्तनों का खूब चलन बढ़ा है, जो कि हमारे स्वास्थ्य के लिए हानिकारक होते हैं। हमारे पूर्वज अपने समय में मिट्टी, लोहे व काँसे के बने बर्तनों का उपयोग करते थे। इसलिए उन्हें मौजूदा दौर की बीमारियाँ नहीं हुईं। यदि हम भी, अपने पूर्वजों की भाँति स्वस्थ्य जीवन–यापन करना चाहते हैं तो, मिट्टी के बने बर्तनों का उपयोग भोजन बनाने के लिए करना चाहिए ताकि हमारे स्वास्थ्य के साथ ही इन कुम्हारों की माली हालत में भी सुधार हो सके।

आधुनिक फ्रिज और एसी ने मिट्टी के बर्तन बनाने वाले कारीगरों के सपनों को भी चकनाचूर कर दिया है। ये मिट्टी के बर्तन बनाकर रखतें हैं लेकिन बिक्री न होने की वजह से खाने के भी लाले पड़ जाते हैं। परिवार कैसे चलेगा। कोई भी मटके खरीदने नहीं आ रहा है। धंधे से जुड़े लोगों ने ठेले पर रखकर मटके बेचने भी बंद कर दिए हैं। देश भर में प्रजापति समाज के लोग मिट्टी के बर्तन बनाने का काम करते हैं। कुम्हार अपना पुश्तैनी काम छोड़ नहीं सकते, इसलिए उनके पास मिट्टी के बर्तन और गर्मी के दिनों में घड़े बेचने

कैसे चलेगा जीवन

के अलावा कमाई का दूसरा विकल्प नहीं है। हालात ये हैं कि अब कुम्हार परिवार अपने काम को जिंदा रखने के लिए कर्ज लेकर व्यवसाय कर रहे हैं. लेकिन इससे भी इनकी लागत नहीं निकल रही। कुम्हार (कुंभकार) जाति के लोग मिट्टी से ही अपनी रोजी–रोटी एवं जीवन–यापन करते हैं। कुम्हार शब्द, कुम्भकार से निकला हुआ प्रतीत होता है, जिसका अर्थ कुम्भ, यानि घड़ा बनाने वाला होता है। इन्हें कुम्भार, प्रजापति, प्रजापत, घूमियार, घूमर, कुमावत, भांडे, कुलाल या कलाल आदि नामों से भी अलग–अलग प्रदेशों में जाना जाता है। कुम्हारों की हस्तकला ही, उनके रोजगार का साधन होता है। कुम्हार अपने हाथों से मिट्टी की वस्तुएं बनाते हैं।

कुम्हार मिट्टी से वस्तुएं बनाने के लिए काली मिट्टी, लाल मिट्टी, रेत व राख आदि को एक साथ मिलाकर, पानी डाल कर अच्छे से मिक्स करते हैं। उसके बाद चाक (चकरी) में मिट्टी को रखकर उनको आकार देते हैं, और भिन्न–भिन्न वस्तुओं का निर्माण करते हैं। देवी–देवताओं की मूर्तियां, दीया, बोरा, बैल, करसा, ग्लास, ठेकुआ, पुरा, मर्की, ओम, देवा, चूल्हा व बच्चों के खिलौने। मिट्टी के बर्तन पकने के बाद, उनको नजदीकी बाजार एवं चौक–चौराहों में बेचने के लिए ले जाते हैं। और उसके बाद, उसी वस्तुओं के पैसे से जो आमदनी उनको प्राप्त होती है, उसी से यह अपना जीवन–यापन और अपने बच्चों का पालन पोषण करते हैं। लेकिन इन मिट्टी के बर्तन या खिलौने का मूल्य उतना ज्यादा नहीं रहता, जितना उसमें मेहनत लगता है। और तो और लेने वाला व्यक्ति भी, वस्तुएं लेने पर मोलभाव करके, उसमें पैसा कम करवा ही लेता है।

इन कुम्हारों का रोजगार उतना अच्छा नहीं रहता। क्योंकि, पहले के समय में, सभी लोग मिट्टी के बर्तन व मिट्टी के वस्तुएं उपयोग करते थे। लेकिन अभी, वर्तमान के समय में, मिट्टी के बर्तनो को लोग नहीं के बराबर इस्तेमाल करते हैं। क्योंकि, सभी लोग स्टील, फाइबर के बर्तन आदि का अधिक इस्तेमाल करते हैं जिससे इनकी आमदनी, पहले के समय से कम होती है। इसके अलावा, गांव में कच्चे मकानों की संख्या काफी कम हो गई है। जिस कारण छत में लगने वाले खपड़े की बिक्री नहीं के बराबर होती है। अब इस धंधे से लाभ नहीं है। गणेश पर्व, दुर्गा पर्व व विश्वकर्मा पूजा आदि में ही इन लोगों को थोड़ी आमदनी हो पाती है और बाकी समय में इनको एक दिन में 100 से 200 रुपये भी मिलना मुश्किल हो जाता है। बहुत से कुम्हार, आमदनी अच्छी ना होने के कारण, मिट्टी की वस्तुओं को बनाना छोड़ दिए हैं। और अपने जीवन–यापन के लिए दूसरे व्यवसाय में चले गए हैं। वे लोग इस काम को और करना नहीं चाहते क्योंकि, इसमें मेहनत अधिक और आमदनी कम है।

कुम्भकार बताते हैं कि बाहर से लाई गई मिट्टी को पहले साफ करके इसको बारीक किया जाता है। इसे पानी में कई घंटों तक रौंद कर भिगोया जाता है। इसके बाद चाक पर चढ़ाकर हाथों से दीपक, गमले, गुल्लक, कलश व मटके का रूप दिया जाता है। मिट्टी के बर्तनों को धूप में सुखाया जाता है और आग में कई घंटों तक पकाया जाता है। ठंडा होने पर बर्तनों का रंग बिरंगे रंगों से डिजाइन बनाकर सुंदर बनाया जाता है और इसके बाद बिक्री के लिए भेजा जाता है। पहले शहर में मिट्टी मिल जाती थी इसकी कोई कीमत नहीं चुकानी पड़ती थी लेकिन अब मिट्टी का मोल भाव होने लगा है। पहले शहर के बाहर खेत होते थे जहां से मिट्टी मिल जाती थी लेकिन अब कॉलोनी बसने से 2 से 3 हजार रुपए प्रति ट्रॉली खरीदनी पड़ती है।

लोग मिट्टी से बने दीपक, प्रतिमाएं, व अन्य सामान का उपयोग करें तो इससे पर्यावरण शुद्ध होगा और कुम्भकारों की आर्थिक स्थिति सुदृढ़ होगी। यहीं नहीं मिट्टी के दीपक से पूजा करने पर लक्ष्मी प्रसन्न होती है। दीपावली पर्व पर मिट्टी के दीपक जलाकर अपने घरों को रोशन करे और कुम्भकारों के घरों में भी रोशनी पैदा करे। युवा कुम्भकार कहते हैं कि दैनिक मजदूरी करने से प्रतिदिन 350 से 400 रुपए की आमदनी हो जाती है। लेकिन इससे इतनी भी कमाई नहीं होती है। इसलिए कुम्भकार समाज के युवाओं में इसके प्रति रूझान नहीं है। बुजुर्ग ही इस व्यापार का चला रहे है। इस समाज के अधिकतर लोग मार्बल फिटिंग, मजदूरी व निजी नौकरी से जुड़ रहे है।

(साभारः www.pravakta.com)

बदले रीति रिवाज

अब कुंवारे रह जाते हैं आंगन भी

पहले दूसरों की बेटियों का विवाह भी अपने घर के आंगन से करते थे

पष्चिमी संस्कृति का अंधानुकरण और भागमभाग भरी जिंदगी में विवाह के रीति रिवाजों का स्वरूप भी बदल गया है। वर और वधू पक्ष के परिवारों को माटी से जोड़ने वाली अधिकांश परंपराएं समाप्त हो चुकी हैं या फिर विलुप्त होने की कगार पर हैं। वैवाहिक कार्यक्रमों के घर–आंगन से बाहर बारात घर और मैरिज गार्डन में करने की परंपरा षुरू होने के कारण अब घर के आंगन कुंवारे रह जाते हैं, जबकि पहले इसका ध्यान रखा जाता था कि आंगन कुंवारा नहीं रह जाए। इसके लिए लोग दूसरों की बेटियों का विवाह अपने घरों के आंगन से करने के लिए तैयार हो जाते थे।

फटाफट में बदली कई दिनों की शादी

आधुनिक वैवाहिक कार्यक्रमों का पूरा स्वरूप ही बदलता जा रहा है। अब पंडालों और बरातघरों में द्वारचार से शुरू होने वाला वैवाहिक कार्यक्रम द्वारचार होने के साथ ही सिमटने लगता है। आज से दो दशक पहले तक वैवाहिक कार्यक्रम कई दिनों के हुआ करते थे। इनमें बाकायदा दोनों पक्ष के लोग बैठकर एक–दूसरे का परिचय लेते थे।

डीजे के शोर में गुम शहनाई की मधुर तान

एक जमाने में विवाह कार्यक्रमों की शान हुआ करती थीं शहनाई। बगैर शहनाई के विवाह कार्यक्रम अधूरे ही माने जाते थे। शहनाई की वह मधुर तान समय के साथ बैंड और अब इसके बाद डीजे के शोर में दब गई है। वैवाहिक कार्यक्रमों में अब शहनाई की मधुर धुन सुनाई ही नहीं देती है।

बदले रीति रिवाज

बैंड पार्टियों की भी कम हुई पूछ परख

डीजे के आगे बैंड की भी पूछ परख कम होती जा रही है। जिन वैवाहिक कार्यक्रमों में बैंड और डीजे दोनों बुलाए जाते हैं उनमें देखा जा रहा है कि लोग डीजे के आगे नाचते रहते हैं। डीजे के कानफोडू शोर के आगे दबती जा रही है बैंड की आवाज। यही कारण है कि अब कई वैवाहिक कार्यक्रमों में लोग बैंड के बजाए सिर्फ डीजे ही बुक कराने लगे हैं।

घोड़ी और बग्घी की जगह ली कार ने

वैवाहिक कार्यक्रमों में दूल्हा घोड़ी या बग्घी में बैठकर पहले दुल्हन के दरवाजे तक पहुंचता है। अब इनकी उपलब्धता और मांग दोनों में कमी के कारण अब इनका स्थान कारों ने ले लिया है। दुल्हन की विदाई कार्यक्रम पहले डोली में हुआ करती थी, अब इस परंपरा पर पूरी तरह से कार हावी हो चुकी हैं।

रिष्तेदारों तक को नहीं पहचानते

विवाह के नए स्वरूप में वर और वधू पक्ष के रिष्तेदार एक–दूसरे को पहचान भी नहीं पाते हैं। वधू पक्ष का कौन पैर पड़कर चला जाता है वर पक्ष के लोगों को इसका पता ही नहीं होता है। हालात यह होते हैं कि दूल्हे तक को पता नहीं होता है कि कौन–कौन लोग उसके पैर पड़कर चले गए। लोगों को मामा और फूफा जैसे नजदीकी रिष्तों के बारे में भी ज्यादा पता नहीं होता है। वैवाहिक कार्यक्रम के दौरान दोनों परिवार के रिष्तेदार एक–दूसरे से मिलते थे। इस कार्यक्रम मे परिवार की पूरी जानकारी ली जाती थी। जनमाशा में रिष्तेदार रुककर रिष्तेदारी बताते थे, जनमाशा में कवित्र होता था, वह अब बंद हो गया है। वधू पक्ष की महिलाएं वर पक्ष के लोगों से रंग–गुलाल भी खेलती थीं। महंगे कपड़े गंदे नहीं हों इसलिए अब यह

प्रथा भी बंद हो गई है।

दूल्हा और दुल्हन तक सिमटी शादी

आजकल का पूरा वैवाहिक कार्यक्रम दूल्हा और दुल्हन के आसपास सिमटता जा रहा है। रिष्तेदारों की भूमिका धीरे–धीरे घटती जा रही है। पहले की तरह अब ना वर पक्ष के लोगों से वधू–पक्ष का परिचय कराया जाता है और ना ही वर पक्ष के लोगों के पास इतना जानने के लिए समय होता है। जबकि पहले लोग परिवारों के बारे में जानने के लिए लालायित रहते थे।

कुएं बचे नहीं, पूजे जा रहे अब हैंडपंप

विवाह कार्यक्रम, बच्चों के जन्म और अन्य धार्मिक कार्यक्रमों में कुआं पूजन का विशेष महत्व है। अब शहरों में कुएं तो बचे नहीं हैं, इसलिए अब हैंड पंप और बाल्टी पूजकर रश्म अदायगी कर रहे हैं लोग। पहले कुएं को परिवार का सदस्य माना जाता था। कुएं से परिवारिक रिष्ता होता था जो अब समाप्त हो गया है।

मागर माटी के लिए जगह नहीं

वैवाहिक कार्यक्रमों में मागर माटी का विशेष महत्व होता था। मागर माटी में गांव की महिलाएं गाजे–बाजे के साथ मिट्टी को खोदकर लाती थीं, उसी मिट्टी से मड़वे के पास चूल्हा बनता था। इसी चूल्हे में विवाह के एक दिन पहले रौ छौकने की रश्म निभाई जाती थी। इन्हीं चूल्हों में लावा परोसने की रश्म निभाने के लिए लावा भूंजने की रश्म भी निभाई जाती थी। अब रिष्तों को आपस में जोड़ने वाली ये रश्म अब महज औपचारिकता तक सिमटकर रह गई हैं।

गारी नहीं मिली तो नाराज हो जाते थे लोग

वैवाहिक कार्यक्रमों में गारी गायन का भी महत्व है। इसमें वधू–पक्ष की महिलाएं वर पक्ष के परिवार और रिष्तेदारों के लिए गारी गाती थीं। वह वैवाहिक कार्यक्रमों के महत्वपूर्ण नेगों में से एक माना जाता था। पहले वैवाहिक कार्यक्रमों के दौरान कई बार ऐसा भी देखने में आया कि किसी रिष्तेदार विशेष को गारी नहीं देने पर वे गुस्सा लेते थे। यहां तक कि वे इसकी शिकायत भी करते थे कि उन्हें गारी क्यों नहीं दी गईं। पूर्व में समधी को नाम लेकर अलग–अलग तरह की गारी दी जाती थी जिससे संबंधों का पूरे परिवार को पता चलता था। अब तो यह सब बंद हो जाने से परिवार के लोग

बदले रीति रिवाज

संबंधों को जान भी नहीं पाते है। संबंध तो नाउन, नाई, बारी तक के होते थे। विवाह में जितना महत्व पंडित का होता था उतना ही नाऊ का होता था। अब तो नाऊ से बात तक नहीं की जाती है।

विलुप्त होती जा रहीं पंगतें

वैवाहिक कार्यक्रमों के दौरान पूर्व में बारातियों को पैर धुलाकर पंगत में बैठाकर भोजन कराया जाता था। आजकल बफे भोजन के आगे यह रश्म भी अंतिम सांसें गिनती नजर आ रही है। आज किसी भी वैवाहिक कार्यक्रम में कौन–कौन आया यह तक पता नहीं रहता है। बस दिखावा अधिक है।

धोबिन देती थी सुहागन

वैवाहिक कार्यक्रमों में धोबिन की भी भूमिका रहती थी। जब तक धोबिन सुहागन नहीं देती थी तब तक विवाह पूर्ण नहीं माना जाता था। मौर्य सिराने के लिए परिवार एवं गांव की महिलाए एक साथ गाजे–बाजे के साथ नदी जाती थी। वैवाहिक कार्यक्रम कई दिनों तक चलते थे जो अब एक दिन में हो जाते हैं।

तब बिदा होती थी गांव की बेटी

वैवाहिक कार्यक्रम के दौरान वधू पक्ष के लिए सबसे महत्वपूर्ण क्षण विदाई का होता है। पहले गांव के बिटिया की बिदाई में पूरा गांव उमड़ पड़ता था। गांव की बिटिया को ससुराल में किसी प्रकार की परेशानी नहीं हो इसलिए गांव के लोग नकद राशि के साथ ही गृहस्थी में उपयोग होने वाली सामग्री भी उपहार में भेंट करते थे। अब तो विदाई कार्यक्रम में महज रश्म अदायगी होती है। हालात यह होते हैं कि विवाह कार्यक्रम के समापन के पूर्व ही कई रिष्तेदार जा चुके होते हैं। विदाई के दौरान वधू के परिवार के ही चंद लोग मौजूद होते हैं।

व्यवहार मतलब आर्थिक सहयोग

वैवाहिक कार्यक्रम के दौरान वधू पक्ष को आर्थिक परेशानी नहीं उठानी पड़े इसके लिए क्षेत्र के लोग वधू पक्ष को व्यवहार के रूप में नकदी और सामग्री भेंट करते थे। आज परिवार के लोग तक सहयोग नहीं करते हैं।

पहले उपहार अब दहेज

पहले वैवाहिक कार्यक्रम के दौरान बेटियों को परिवार के लोग उपहार के रूप में दैनिक उपयोग में आने वाली सामग्री व संस्कार दिया करते थे। समय के साथ इसका स्वरूप बदल गया है। अब उपहार की जगह वर पक्ष की ओर से दहेज की लिस्ट वधू पक्ष को दी जाती है। हर सामान अब ऑनलाइन बुक हो जाता है। पहले परिवार के लोग दहेज के सामान की तैयारी महीनों पहले करने लगते थे।

(साभार: www.patrika.com)

बिहार सरकार
कला, संस्कृति एवं युवा विभाग

पद्म श्री पंडित हरि उप्पल

की जयंती के अवसर पर

शास्त्रीय नृत्य महोत्सव

22 सितंबर 2024 | संध्या: 05:00 बजे

पद्म श्री माधवी मुद्गल

एवं दल द्वारा ओडिसी नृत्य की प्रस्तुति

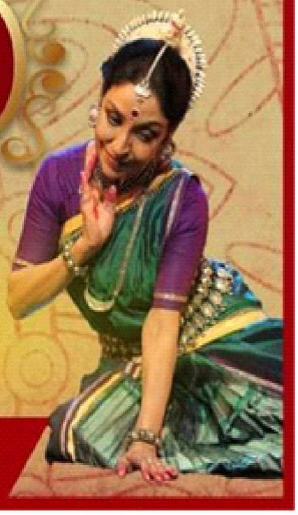

स्थान: भारतीय नृत्य कला मंदिर, फ्रेजर रोड, पटना

इक्विटी फाउंडेशन
123 ए, पाटलीपुत्र कॉलोनी
पटना, 13

equityasia@gmail.com
www.emanjari.com
06122270171
6207092051
7979772023

RNI Title Code: BIHBIL02442

© इक्विटी फाउंडेशन

This document was created with the Win2PDF “Print to PDF” printer available at

https://www.win2pdf.com

This version of Win2PDF 10 is for evaluation and non-commercial use only.
Visit https://www.win2pdf.com/trial/ for a 30 day trial license.

This page will not be added after purchasing Win2PDF.

https://www.win2pdf.com/purchase/